वर्ष ३१]

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,४५,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर भाद्रपद २०२२, अगस्त १९६५

विषय	पृष्ठ-संख्या
१—भावी विरह-जनित श्रीराधाकी व्याकुलता [कविता]	१०८५
२—कल्याण ('शिव')	१०८६
३—मानव-उत्कर्ष (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज)	१०८७
४—एक महात्माका प्रसाद (संकलयिता—श्री'माधव')	१०९२
५—रामायणमें भरतकी अनुकरणीय परम श्रद्धा और प्रेम (ब्रह्मलीन पूज्य० श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	१०९४
६—यथार्थ दृष्टि तथा सत्यदर्शन (साधुवेषमें एक पथिक)	११०१
७—धन-शक्ति (संकलयिता—'माधव')	११०४
८—अन्तर्मुख-वृत्ति (विद्यावाचस्पति श्रीगणेशदत्तजी शर्मा 'इन्द्र')	११०५
९—संतका स्वरूप [कविता] (गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी)	११०७
१०—सफलता [कहानी] (श्री'चक्र')	११०८
११—व्यर्थकी चिन्ताएँ छोड़िये और प्रसन्न रहिये (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)	११११
१२—अपने सभी काम नियत समयपर कीजिये (श्रीअगरचन्दजी नाहटा)	१११४
१३—मधुर	१११६
१४—प्रभुकी सत्ता (श्रीप्रह्लादरायजी व्यास 'साहित्य-सुधाकर')	१११९
१५—जीवनमें स्वरोदयकी महत्ता (श्रीगुरु रमप्यारेजी अग्निहोत्री, गुरु-कुञ्ज-कुटीर, उपरहटी, रीवाँ, म० प्र०)	११२२
१६—खोना सोना है (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')	११२४
१७—प्रकाशके पुनर्जन्मकी आश्चर्य-घटना (प्रोफेसर श्रीहेमेन्द्रनाथजी बनर्जी)	११२५
१८—जब क्रोध आता है ! (श्रीगौरीशंकरजी गुप्त)	११२७
१९—क्रोधनाशका उपाय	११२८
२०—हिंदू-संस्कृतिके रंगमें रँगे रहीमके काव्यमें प्रभु-महिमा (श्रीगोवर्द्धनलालजी पुरोहित, एम्० ए०, बी० एड्०)	११२९
२१—मनसुख-विरह-शतक [कविता] (श्रीजसवंतजी रघुवंशी)	११३१
२२—अपनी संस्कृतिके प्रति घोर अनास्था और पतन !	११३५
२३—मानव ! सावधान	११३६
२४—ये भीषण जीवहत्याके सरकारी उद्योग !	११३७
२५—पढ़ो, समझो और करो	११३८
२६—'धर्माङ्क'की सूचना	११४७

चित्र-सूची

१—भक्त सूरदास	(रेखाचित्र)	मुखपृष्ठ
२—भावी विरह-जनित श्रीराधाकी व्याकुलता	(तिरंगा)	१०८५

वार्षिक मूल्य भारतमें रु० ७.५० विदेशमें रु० १०.०० (१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ४५ पै० विदेशमें ५६ पै० (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

भावी विरह-जनित श्रीराधाकी व्याकुलता

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

सदा सर्वत्रास्ते ननु विमलमाद्यं तव पदं तथाप्येकं स्तोकं नहि भवतरोः पत्रमभिनत् ।
क्षणं जिह्वाग्रस्तं तव तु भगवन्नाम निखिलं समूलं संसारं कषति कतरत् सेव्यमनयोः ॥

वर्ष ३९ } गोरखपुर, सौर भाद्रपद २०२२, अगस्त १९६५ { संख्या ८
पूर्ण संख्या ४६५

भावी विरह-जनित श्रीराधाकी व्याकुलता

मधुपुरि गँवन करत जीवन-धन ।
लै दाउए संग सुफलक-सुत, सुनि जरि उठी ज्वाल सब तन-मन ॥
भई विकल, छायौ विषाद मुख, सिथिल भये सब अंग सुसोभन ।
उर रस जर्‍यौ, सु रहे सूखि द्वै दृग अपलक. तम व्यापि गयौ घन ॥
लगे आय समुझावन प्रियतम; पै न सके, प्रगट्यौ विषाद मन ।
वानी रुकी, प्रिया लखि आरत, थिर तन भयौ, मनौ बिनु चेतन ॥
भावी बिरहानल पिय-प्यारी जरन लगे, बिसरे जग-जीवन ।
कौन कहै महिमा या रतिकी, गति न जहाँ पावत सुर-मुनि-मन ॥

याद रक्खो—जहाँ बदलेमें या फलरूपमें कुछ भी प्राप्त करनेकी कामना है, वहाँ विशुद्ध अनुराग नहीं है। इसीसे विशुद्ध अनुराग भुक्ति-मुक्तिकी कामनावाला संसारी मनुष्य नहीं कर सकता, न विशुद्ध प्रेम परम प्रियतम भगवान्‌के सिवा अन्यत्र कहीं हो ही सकता है।

याद रक्खो—संसारमें एकके साथ जो दूसरेका सम्बन्ध होता है, वह चाहे व्यक्तिगत हो या समष्टिगत, उसमें परस्पर लेन-देनकी नीति रहती ही है, चाहे वह प्रकटमें न दिखायी दे। यहाँतक कि जो लोग निःस्वार्थ भावसे सेवा या पर-हित करते हैं, उनके हृदयमें भी यह भावना छिपी रहती है कि वे अपने इस सेवा या पर-हित-कार्यके द्वारा एक लोकोपकारी महान् आदर्श उपस्थित कर रहे हैं, वरं बहुत गहरेमें जाकर देखा जाय तो उनमें किसी-न-किसी रूपमें मान-पूजा या ख्याति-प्रशंसाकी कामना छिपी रहती है।

याद रक्खो—जो लोग निःस्वार्थभावसे देवाराधन, जनसेवा आदि कार्य करते हैं वे भी कम-से-कम इस कार्यके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि तो चाहते ही हैं और अपनेको सर्वथा निष्काम मानकर केवल मुक्तिके लिये ही साधना करते हैं, उनमें भी संसार-दुःख-निवृत्ति या जन्म-मृत्युके चक्रसे छूटनेकी कामना रहती है। अतएव जहाँतक एकमात्र भगवान्‌में परम प्रियतम बुद्धि नहीं होती और प्रियतम-सुखके लिये ही जीवन नहीं बन जाता, वहाँतक किसी-न-किसी रूपमें अन्याभिलाषा रहती ही है। जहाँतक अन्याभिलाषा है—किसी भी रूपमें भुक्ति-मुक्तिकी कामना है, वहाँतक विशुद्ध प्रेम नहीं है। वह एक प्रकारका लेन-देनका व्यापार ही है। कम लाभका हो या अधिक लाभका—साधनाके फलस्वरूप किसी लौकिक दुःखकी निवृत्ति या किसी लौकिक वस्तुकी प्राप्ति हो जाय अथवा जन्म-मरणरूप दुःखकी निवृत्ति या मुक्तिकी प्राप्ति हो जाय।

याद रक्खो—परम प्रियतम भगवान् अपने प्रेमी भक्तके अधीन होकर उसके विशुद्ध प्रेमरसका आस्वादन करते हैं और वह प्रेमी भक्त अपनेमें सदा-सर्वदा प्रेमका अभाव अनुभव करता हुआ परम प्रियतम भगवान्‌के स्वभावकी महिमा गाता रहता है और भुक्ति-मुक्ति सबका विसर्जन देकर केवल प्रियतम-सुखका मूर्तिमान् स्वरूप बना हुआ उत्तरोत्तर विशुद्ध प्रेमकी अनन्तताकी ओर अग्रसर होता रहता है। यही परम प्रियतम भगवान्‌के साथ विशुद्ध प्रेमसम्पन्न भक्तका सम्बन्ध होता है और यह सम्बन्ध केवल प्रेमके लिये ही होता है और होता है परम प्रियतम भगवान् और विशुद्ध (भुक्ति-मुक्ति-वासनालेश-शून्य) प्रेमी भक्तमें ही।

याद रक्खो—ऐसा विशुद्ध प्रेमी भक्त वस्तुतः मुक्त ही होता है और वह वस्तुतः पराशान्तिको प्राप्त होता है। बल्कि मुक्ति और शान्ति अनायास ही अपनेको धन्य करनेके लिये उसकी सेवामें नियुक्त रहती हैं। अतः किसी प्रकारका भी कोई बन्धन उसको नहीं रहता और न किसी भी प्रकारकी कोई परिस्थिति उसकी शान्तिमें तनिक बाधक हो सकती है। हाँ, एक बन्धन उसमें अवश्य रहता है, वह है विशुद्ध प्रेमका बन्धन, जिसमें भगवान् स्वयं उसके साथ बँधे रहते हैं और इस बन्धनसे वह कभी मुक्त होना नहीं चाहता। यही तो उसका स्वरूप-सौन्दर्य है।

'शिव'

मानव-उत्कर्ष

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज)

जीव चौरासी लाख योनियोंमें भटकते-भटकते जब मनुष्य-शरीरमें आता है, तब उसका उत्कर्ष हो, इसके लिये शास्त्रोंने ऐसी सुन्दर व्यवस्था कर रक्खी है कि जिसका अनुसरण करनेसे फिर संसारके चौरासी लाखके चक्करमें भटकना नहीं पड़ता।

(१) पहला सिद्धान्त है—कर्मका फलभोग अनिवार्य है।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि॥

अर्थात् कितना ही लम्बा समय क्यों न बीत जाय, कर्म अपना फल भुगताये बिना नष्ट नहीं होता। आजके किये कोई कर्म कालान्तरमें फल देंगे ही—आज ही दें, अगले जन्ममें दें, अथवा दो-चार कल्पोंके बाद दें। जब कभी दें, पर फल दिये बिना उनके नाशका कोई उपाय नहीं। हाँ, ज्ञानसे वे अवश्य नाश होते हैं, यह अपवाद है।

(गीता ४। ३७)

(२) दूसरा सिद्धान्त है—पुनर्जन्मका। इस जन्ममें मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है, उसमें बहुत-से कर्म ऐसे होते हैं, जिनका फल उसे इसी जन्ममें नहीं मिल सकता। ऐसे कर्म अगले जन्मोंमें फल देते हैं। अतएव उन-उन कर्मोंका फल भोगनेके लिये उन्हींके अनुरूप कितने ही शरीर जीवको धारण करने पड़ते हैं। इस सिद्धान्तके समझ लेनेपर एक बड़ा लाभ यह होता है कि मनुष्य अशुभ कर्म करनेमें डरने लगता है; क्योंकि उसका विश्वास होता है कि कर्मका फल भोगना ही पड़ेगा। इस युगमें तो हमलोग देखते हैं कि खून करनेवाले भी कानूनोंके दाँव-पेंचका उपयोग करके निर्दोष छूट जाते हैं; परंतु अगले जन्मोंमें उसका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं। यह ईश्वरका अटल नियम है। इसमें परिवर्तन करना किसीकी शक्तिमें नहीं है। मनुष्यकी आँखोंमें धूल झोंकी जा सकती है, परंतु ईश्वरको धोखा नहीं दिया जा सकता। वह तो अन्तर्यामीरूपसे मनुष्यके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विचार और गुप्त-से-गुप्त कार्य जानता है।

धरतीतलके भोंयरे छिपकर करिये काम।
अन्तर्यामी देखता आठों पहर तमाम॥

इस विश्वके अधिकांश मनुष्य पुनर्जन्म नहीं मानते, पर उनके न माननेसे उनका पुनर्जन्म नहीं होगा, ऐसी बात नहीं है। एक आम यदि मीठा होता है तो उस वृक्षके सभी आम मीठे होते हैं और खट्टा होता है तो सब खट्टे। इसका कारण यह है कि एक ही बीज-शक्ति तमाम आमोंमें काम करती है। परंतु मनुष्यके जन्ममें तो एक ही माता-पिताकी संतानोंका स्वभाव अलग-अलग देखा जाता है। इसका कारण यह है कि भिन्न-भिन्न संस्कारवाले जीव पूर्व-जन्मका ऋणानुबन्ध चुकानेके लिये एक ही घरमें इकट्ठे हो जाते हैं। इसीसे भाई-बहिनोंके स्वभावमें भी भेद दिखायी देता है। इस प्रकार पुनर्जन्म सिद्ध होता है तथापि न माननेवाले लोग प्रत्यक्षका भी आदर न करके नहीं मानते। इसमें उनका हठाग्रह ही कारण है।

सन् १९६४ ई० की घटना है। यूरोपके किसी मुस्लिम देशके एक कुटुम्बमें एक बालकका जन्म हुआ। वह दो-तीन वर्षका हुआ तब उसने अपने पितासे कहा कि 'मुझे अपने घर ले चलो।' पिताने कहा 'तू जहाँ है, वही तो तेरा घर है; क्योंकि तेरा जन्म यहीं हुआ है।' पिताके बाहर जानेके बाद वह छोटा-सा बच्चा अकेला घरसे निकला और अपने पूर्वजन्मके घरपर जा पहुँचा। वहाँ एक अधेड़ उम्र-की महिला और उसकी दो लड़कियाँ बैठी थीं। उनको देखकर बालकने कहा—'क्यों प्रिये! तुम प्रसन्न हो न?' फिर लड़कियोंसे कहा—'मेरी प्यारी बेटियो! तुम भी प्रसन्न हो न?'

महिलाके द्वारा पूछे जानेपर बालकने उत्तर दिया कि 'मैं अमुक नामवाला तुम्हारा पति हूँ और ये दोनों (नाम लेकर) मेरी लड़कियाँ हैं। अमुक वर्षमें मेरी अमुक स्थानपर मृत्यु हुई थी और अबकी बार मेरा जन्म अमुक स्थानमें अमुकके घरमें हुआ है।' यहाँ उस बच्चेने जितने नाम-धाम बताये, सब ठीक थे।

इतने प्रमाण होनेपर भी न माननेवाले हठीले और दुराग्रही मनुष्य पुनर्जन्मको किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं करते। ऐसे लोगोंके लिये तो मौन ही उचित है।

(३) तीसरी है—वर्णव्यवस्था। कर्मफल-भोगका सिद्धान्त समझमें आ जानेपर पुनर्जन्मका सिद्धान्त समझते देर नहीं लगती। इस पुनर्जन्मके सिद्धान्तपर भगवान्‌ने चार वर्णवाले समाजकी रचना की है, ऐसा कहा गया है (गीता ४। १३)। यहाँ भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि 'विगत जन्मोंके कर्मोंके

आधारपर ही मैंने चार वर्णवाले समाजकी रचना की है। वर्ण चार हैं—(१) ब्राह्मण, (२) क्षत्रिय, (३) वैश्य और (४) शूद्र। सत्त्वगुणकी प्रधानतावाले जीव ब्राह्मण-वर्णमें जन्म लेते हैं। तमोगुणकी प्रधानतावाले जीव शूद्र-देह प्राप्त करते हैं। सत्त्वमिश्रित रजोगुणकी प्रधानतावाले क्षत्रिय देह प्राप्त करते हैं और तमोगुणमिश्रित रजोगुणवाले वैश्य-शरीर प्राप्त करते हैं।

इस वर्ण-व्यवस्थामें जिस वर्णमें जिसका जन्म होता है, वह उसी वर्णका कहलाता है और उस वर्णके उचित कर्मको वह यदि निष्कामभावसे करता है तो उत्कर्षको प्राप्त होता है।

यूरोप, अमेरिका आदि देशोंके लोग इतना तो मानते ही हैं कि अमुक घोड़ीके बछेरेमें अमुक प्रकारकी विशेषता होती है और इसीसे उसका विशेष मूल्य भी चुकाया जाता है। अमुक कुतियाके पिल्लेमें अमुक विशेषता होती है, इसलिये उसके भी ज्यादा पैसे दिये जाते हैं। केवल बाहर-की आँखोंसे देखनेपर तो सभी बछेरे एक-से होते हैं और सभी पिल्ले भी एक-से, परंतु अमुक माताकी संतान होनेके कारण उसमें विशेष गुण होते हैं, ऐसा माना जाता है। तथापि ब्राह्मणके घर जन्मे हुए बालकमें अमुक विशेषता और अमुक प्रकारके गुण होते हैं, वे शूद्रके यहाँ जन्मे हुए बालकमें नहीं होते; इस बातको वे लोग नहीं समझ पाते, अथवा वे समझना ही नहीं चाहते। इसी प्रकार एक क्षत्रिय-के यहाँ जन्मे बालकमें जो अमुक विशेषता होती है, वह दूसरे वर्णमें जन्मे हुए बालकमें नहीं होती। कुत्ते और घोड़ोंके सम्बन्धमें तो वे ठीक ऐसी ही बात मानते हैं, पर ब्राह्मणके यहाँ जन्मा हुआ बालक ब्राह्मण और वैश्यके यहाँ जन्मा हुआ बालक वैश्य और शूद्रके यहाँ जन्मा हुआ बालक शूद्र होता है, यह माननेको वे तैयार नहीं होते। विचार करनेपर इसका कारण यह दिखायी देता है कि यदि जन्मके अनुसार जाति मानी जाती है, तो पुनर्जन्म मानना पड़ता है, पुनर्जन्म माननेपर कर्मका सिद्धान्त भी मानना पड़ता है और इन दोनों बातोंका मान लेना यह सिद्ध करता है कि वे हमारे शास्त्रोंको मानते हैं एवं शास्त्रोंको माननेपर उन्हें नियन्ताके रूपमें ईश्वरको स्वीकार करना ही पड़ता है। इन्हीं सब कठिनाइयोंके कारण समझते हुए भी वे लोग जन्मसे जाति माननेको तैयार नहीं हैं और दुराग्रहसे ही अपनी बात पकड़े हुए हैं। ऐसे लोगोंको कौन समझा सकता है? वहाँ तो भर्तृहरि कहते हैं—

'न तु प्रतिनिविष्ठमूर्खजनचित्तमाराधयेत्'

इस प्रकार मनको मनाकर मौन रखनेमें ही आनन्द है।

विगत जन्मोंके कर्मके अनुसार भगवान्‌ने जैसे चार वर्ण-की रचना करनेकी बात कही ऐसे ही हमारे ऋषि-मुनियोंने मानव-स्वभावका अनुसरण करके उसके चार विभाग किये हैं—(१) पामर, (२) विषयी, (३) मुमुक्षु और (४) मुक्त।

(४) मुक्त—अर्थात् जिसने मानव-जीवनका उत्कर्ष प्राप्त कर लिया है और इससे जो ज्ञान-सम्पन्न होकर प्रारब्धके क्षय होनेतक जीवन्मुक्त स्थितिमें जीवन व्यतीत कर रहा है।

(३) मुमुक्षु। ऐसे मनुष्यको शास्त्रका परिचय होता है और वह यह समझता है कि मानव-जीवनका लक्ष्य भोग नहीं, किंतु मोक्ष है; इसलिये वह अपने वर्तमान जीवनको यथाप्राप्तमें संतोषपूर्वक व्यतीत करता हुआ मोक्षकी साधना-में ही लग जाता है और जन्म-मरणके जालसे छूटनेके लिये उसमें इतनी तीव्र छटपटाहट पैदा हो जाती है कि वह वर्तमान जीवनके सुख-दुःखोंकी ओर दृष्टिपात ही नहीं करता, परंतु उसका सम्पूर्ण लक्ष्य भवबन्धनसे छूटनेमें ही लगा रहता है। ऐसा पुरुष वेगसे अपने उत्कर्षकी प्राप्तिमें संलग्न रहता है और एक दिन वह अवश्य ही जन्म-मरणके चक्रसे छूट जाता है।

(२) विषयी। ऐसे मनुष्यको शास्त्रका परिचय होता है, इसलिये वह यह समझता है कि 'मनुष्य-जीवनका लक्ष्य मोक्ष है।' परंतु उसकी भोगोंमें इतनी बढ़ी हुई आसक्ति होती है कि वह समझनेपर भी भोगोंको छोड़ नहीं सकता। वह कई बार ईश्वरका भजन भी करता है, परंतु करता है विषय-सुख प्राप्त करनेके साधनरूपमें। ऐसे मनुष्यकी स्थिति सरौतेके बीच सुपारी-जैसी होती है। वह समझता है कि भोग-पदार्थोंमें सुख नहीं मिलेगा, परंतु भोग-पदार्थोंमें उसका मन इतनी दृढ़तासे लगा हुआ होता है कि वह उसे हटा नहीं सकता। परिणाममें उसका सारा जीवन भोग-पदार्थोंके संग्रहमें ही समाप्त हो जाता है और यथेच्छ भोग-पदार्थ प्राप्त न होनेके कारण उसके जीवनमें निराशा छा जाती है एवं हाय-हाय करते ही वह प्राणोंको छोड़ देता है। ऐसे मनुष्य-को चेतावनी देते हुए शास्त्र कहते हैं—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥

भाइयो ! भोग-पदार्थोंके इकट्ठा करनेसे तुम्हारी भोग-तृष्णा शान्त नहीं होगी, परंतु घी डालनेसे जैसे अग्नि अधिक-से-अधिक प्रबल होती है, वैसे ही भोग-पदार्थोंके संग्रहसे भोग-तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है और तृष्णा ही मनुष्य-को जन्म-मरणके चक्रमें घुमाया करती है ।

इसके लिये ययाति राजाका पुराण-युगका दृष्टान्त प्रसिद्ध है और वर्तमान युगका दृष्टान्त लें तो अमेरिकाका प्रत्यक्ष है । कहा जाता है कि जगत्के तमाम भोग, भोग-साधन और जगत्का सारा सोना अमेरिकामें है । इतना होते हुए भी अमेरिकामें दुःख अधिक-से-अधिक है । वहाँ पागलोंकी संख्या सबसे अधिक है । खून, चोरी, लूट, गर्भपात आदि त्रासदायक स्थितियोंमें अमेरिका सबसे आगे है । सच्चे अर्थमें अमेरिकामें कुमारी-कन्याका मिलना कठिन है । यदि भोग-पदार्थोंसे सुख-शान्ति मिलती होती तो अमेरिकाकी आज ऐसी बुरी स्थिति नहीं होती !

सार यही है कि भोगोंसे कभी तृप्ति होती ही नहीं । अतएव यदि सुख-शान्तिमें जीवन बिताना हो तो संतोषका सेवन करना चाहिये ।

संतोषादनुत्तमसुखलाभः ।

संतोषमें ही सुखका बीज रहता है । अतएव जिस मनुष्यको अपने उत्कर्षका साधन करना है उसे तो यथा-प्राप्तमें संतोषसे जीवन बिताते हुए मोक्षकी साधनामें अग्रसर होना चाहिये ।

उपर्युक्त तीन प्रकारके मनुष्य केवल भारतवर्षमें ही निवास करते हैं । इसी कारण इस देशको कर्मभूमि कहा जाता है । भगवान् व्यासने ब्रह्माण्डपुराणमें स्पष्ट कहा है—

देहं लब्ध्वा विवेकाढ्यं द्विजत्वं च विशेषतः ।
तत्रापि भारते वर्षे कर्मभूमौ सुदुर्लभम् ॥
को विद्वानात्मसात्कृत्वा देहं भोगानुगो भवेत् ।

× × × ×

कर्मभूमिका अर्थ इतना ही है कि वहाँका मनुष्य यह समझता है कि मनुष्यजीवनका उत्कर्ष भोग-विलासके सेवनमें नहीं, परंतु भोगका त्याग करके मोक्षकी साधना करनेमें है । अतएव इस देशके मनुष्य नवीन कर्म करके मोक्षगामी होते हैं । यहाँ जैसे भारतवर्षको कर्मभूमि कहा गया है, वैसे ही मनुष्यशरीरको भी कर्मभूमि कहा गया है । ८४ लाख प्रकारके शरीर हैं, उनमें केवल मनुष्य-शरीरमें ही नवीन कर्म करनेकी क्षमता है । अन्यान्य ८३९९९९९ शरीर भोग-भूमि कहलाते हैं; क्योंकि उन शरीरोंमें जीव नवीन कर्म करनेमें समर्थ नहीं है । वहाँ केवल प्रारब्धके अनुसार सुख-दुःख भोगकर ही शरीर छोड़ देना पड़ता है, पर मनुष्य-शरीरमें जीव नवीन कर्म करनेमें समर्थ है और इसलिये वह इस शरीरमें ही मोक्षकी साधना करके अपना उत्कर्ष साधन कर सकता है ।

जीवका अर्थ है शरीरमें रहनेवाला चेतनतत्त्व । गीतामें भगवान्ने इसको अपना अंश कहा है । भगवान्का यह अंश शरीरमें आनेके कारण अपने स्वरूपको भूल गया और अपनेको शरीररूप मानकर शरीरके ही सुखसे सुखी और शरीरके ही दुःखसे दुखी होने लगा । इस प्रकार अपने किये हुए कर्मोंका फल भोगनेके लिये जीव अनेक योनियोंमें भटकता है, परंतु यदि उसे अच्छा संग मिल जाता है तो वह मोक्षकी साधना करके जन्म-मरणके चक्रसे छूट जाता है ।

(१) बस, पामर तो पामर ही है । उसके लिये कोई पर्याय शब्द नहीं मिलता । केवल संकेतसे ही उसका अर्थ समझाया जा सकता है ।

एक गधेको जैसे 'मैं गधा हूँ' यह भान नहीं होता और एक कुत्तेको जैसे 'वह कुत्ता है' इसकी जानकारी नहीं होती तथा एक सूअरमें जैसे 'वह सूअर है' इस प्रकारकी समझ नहीं होती, उसी प्रकार पामरमें 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसा ज्ञान नहीं होता । और जिसको 'मैं मनुष्य हूँ' इतना भी ज्ञान नहीं, उसे मनुष्य-शरीर कितना अमूल्य है और मनुष्य-जीवन कैसे प्राप्त होता है, यह कैसे समझाया जा सकता है । कोई समझानेका प्रयत्न करता है तो उसे ऐसा ही समझना चाहिये जैसे भैंसको भागवत सुनाना । हमारे शास्त्र तो कहते हैं—

महता पुण्यपण्येन क्रीतेयं कायनौस्त्वया ।
पारं दुःखोदधेर्यातुं तर यावन्न भिद्यते ॥

इस जन्म-मरणरूप दुःखका समुद्र जो यह संसार है, इससे तरनेके लिये अनेक जन्मोंके महान् पुण्योंके प्रतापसे और भगवान्की दयासे यह मनुष्य-शरीर प्राप्त होता है । यदि कोई इसका उपयोग पशुकी तरह केवल विषय-सेवनमें ही करे तो उस मनुष्यको पारसमणि देकर बदलेमें एक सेर साग लेनेवाला मूर्ख ही समझना चाहिये । ठीक ही कहा गया है—

खादते मोदते नित्यं शुनकः शूकरः खरः ।
तेषामेषां को विशेषो वृत्तिर्येषां तु तादृशी ॥

कुत्ता, सूअर और गधा भी रोज-रोज खाता-पीता है, आनन्द करता है और थकावट आनेपर सोता भी है। यदि मनुष्य इसी प्रकारका जीवन व्यतीत करता हो तो उसे इनसे उत्तम कैसे माना जाय ?

विष्णुपुराणमें कहा गया है—

यो नरो जन्मपर्यन्तं स्वोदरस्य प्रपूरकः।
न करोति हरेर्भक्तिं स नरो गोवृषः स्मृतः॥

जो मनुष्य अपना सारा जीवन केवल अपना पेट भरनेमें ही बिता देता है और यह जानता भी नहीं कि मैं मनुष्य हूँ और मनुष्यके लिये कर्तव्यरूप ईश्वरकी भक्ति नहीं करता उसे तो दो पैरवाला बैल ही समझना चाहिये।

पूर्वकालमें भारतवर्षमें 'चार्वाक' मत चला था, परंतु इस देशमें वह पनप नहीं सका और इसलिये वह नाममात्रको रह गया। ऐसे मनुष्योंने ही कदाचित् अपनी वासनाके बलसे अपना मत फैलानेके लिये यूरोपमें जन्म लिया हो, यह असम्भव तो नहीं कहा जा सकता। आज तो यह मत सारे विश्वमें फैल गया है और बहुत थोड़े मनुष्य इससे बचे हैं। इसका सिद्धान्त ही है—

यावज्जीवं सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

जबतक यह जीवन है खूब ऐश-आरामसे जीना चाहिये। ऋण लेकर (अथवा बड़ा-से-बड़ा पाप करके) भी भोग भोगने चाहिये; क्योंकि इस शरीरके भस्म हो जानेके बाद वापस लौटना कहाँ है अर्थात् मरनेके बाद ऐसे भोग भोगनेका अवसर फिर मिलनेका नहीं है।

इसीलिये इन लोगोंका स्वभाव 'कामोपभोगपरमा' होता है। यों नष्ट हुए विवेकवाले अल्पबुद्धि लोग विषय-सुखके लिये हाय-हाय करते हुए परिणामका विचार न कर महान् भयंकर कर्मोंमें लगे हुए जगत्की शत्रुताका ही काम करते हैं और जगत्के विनाशमें ही अपनी शक्तिका उपयोग करते हैं। दम्भ, मान और मदसे छके हुए ये लोग कभी पूरी न हो सकनेवाली कामनाओंके साथ आग्रहसे चिपटे रहते हैं और मोहसे मिथ्या दुराग्रहोंके हठसे सदा पापाचारमें प्रवृत्त रहते हैं। (गीता ९। १०)

अधिक भोग प्राप्त करनेके लिये लगभग पचास वर्ष पूर्व इन लोगोंने मंगल-ग्रहमें जानेकी घोषणा की थी। उस विषयपर कई पुस्तकें भी लिखी गयी थीं। पर कुछ वर्षोंमें ही वह प्रयत्न छोड़ दिया गया। आज फिर चन्द्रमापर जानेका निश्चय किया जा रहा है। चन्द्रमापर जाना होगा कि नहीं, यह तो भगवान् जानें; परंतु इस जानेके प्रयत्नमें पृथ्वीको घेरे हुए जो पतले हवाके स्तर हैं, वे यदि नष्ट हो गये तो पृथ्वीका विनाश हो जायगा, यह निश्चय है। यदि चन्द्रमाका आकर्षण बढ़ेगा तो समुद्रमें बहुत भारी बाढ़ आकर पृथ्वीको डुबो देगी और यदि सूर्यकी गरमी बढ़ जायगी तो पृथ्वी जल जायगी। (इस प्रकारकी सूचना इन लोगोंके एक वैज्ञानिककी भी है।)

गत जनवरीमें हवामें जितनी गरमी थी, उतनी गरमी साधारणतया मार्चमें होनी चाहिये थी। क्या इससे यह सूचना नहीं मिलती कि सूर्यकी गरमीकी मात्रा बढ़ रही है ? इसी प्रकार कुछ ही दिनों पूर्व धनुष्कोटिमें होनेवाली दुर्घटनासे क्या यह सूचना नहीं मिलती कि चन्द्रमाका आकर्षण बढ़ता जा रहा है ?

इस प्रकारकी वानरी-चेष्टा करके अपना ही विनाश करनेकी अपेक्षा तो प्रजाको सुख-शान्ति कैसे मिले, इसके विचारमें विज्ञानका उपयोग किया जाता तो बहुत अच्छा था, पर जिसको भोगोंकी ही भूख है, उसमें ऐसे सौम्य विचार कहाँसे आ सकते हैं। प्रकृतिके साथ इस प्रकार छेड़-छाड़ करनेका कैसा भयंकर परिणाम होता है इसका एक दृष्टान्त पञ्चतन्त्रमें है। उसे यहाँ दे देना अनुपयुक्त नहीं होगा।

एक मोटा काठ चीरना था। चीरनेवालोंने दिनभर प्रयत्न किया, पर पूरी चिराई न होनेके कारण चीरे हुए भागमें एक पचड़ ठूँसकर वे लोग घर चले गये। इतनेमें ही कुछ बंदर वहाँ आये और अपने स्वभाववश छेड़-छाड़ करने लगे। उनमें एक बंदर चीरे हुए काठके पचड़के सामने बैठ गया। उसकी पूँछ चीरेके अंदर लटक रही थी। बंदरने दोनों हाथोंसे उस पचड़को बाहर निकालनेके लिये जोरसे हिलाना शुरू किया और कुछ ही देरमें पचड़के निकलते ही उसकी पूँछ और वृषण काठके दोनों भागोंमें दब गये और तत्काल ही उसकी मृत्यु हो गयी।

आज इतनी अधिक संख्यामें वायुयान आकाशमें उड़ने लगे हैं और इसी प्रकार ट्रेनों और कारखानोंकी संख्यामें भी दिनोंदिन वृद्धि हो रही है। इससे हवामें प्राणवायु (ऑक्सीजन) की मात्रा बहुत ही घट गयी है। परिणामस्वरूप प्रजाका स्वास्थ्य बिगड़ता जा रहा है। जगत्की लगभग आधी प्रजाने इसके लिये पुकार भी की, पर उसका कोई भी फल नहीं हुआ। केवल रूस, मास्को शहरकी

रक्षाके लिये वहाँके लोगोंको अधिक मात्रामें ऑक्सीजन दे रहा है। मानो मास्कोमें रहनेवाले ही उसकी प्रजा हैं, अन्यत्र रहनेवाले नहीं ! परंतु इसे कौन पूछ सकता है।

परिणामका विचार किये बिना ही मनमाना आचरण करनेवालेको बंदर बतलाया गया है, सो ठीक ही है।

मतयो यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वानराः।
शास्त्राणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति ते नराः॥

मनमें कुछ भी आये और बिना ही विचार किये वैसा ही करने लगे, इस प्रकार करनेवाले लोगोंको 'वानर' कहा गया है। और कार्याकार्यका निर्णय करनेके लिये—अमुक कार्य करना चाहिये या नहीं, इसका विवेक करनेके लिये जो शास्त्रोंका आश्रय लेते हैं, शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार कर्म करते हैं, उन मनुष्योंको 'नर' कहा गया है।

प्रकृति स्वभावसे ही अधोगामिनी है। अतएव मनुष्यसे पशु बनना सहज है। पशुभावमें जाते हुए मनुष्यको रोकनेवाला कोई तत्त्व है तो वह 'धर्म' है, पर उस धर्मको तो आज कानूनकी कलमसे देशनिकाला दे दिया गया है। यह बात यहींतक नहीं रुकी है, वरं धर्मके स्थानपर प्रजाके सामने रक्खे गये हैं—अवाञ्छनीय अनिष्टकारक आविष्कार। जैसे कि सगोत्रविवाह, वर्णान्तर-विवाह, विवाह-विच्छेद, संतति-नियमनके साधनोंका प्रचार और उसके लिये ऑपरेशन, सहशिक्षा और कोर्टमें विवाहकी रजिस्ट्री करवाना आदि-आदि। इससे आज देशभरमें अनाचार और दुराचार सर्वत्र फैल गया है। अब इसमें यदि भ्रूणहत्या (गर्भपात) अपराध नहीं है, ऐसा कानून और जुड़ गया, तब तो बस, भारत उन्नतिके शिखरपर ही चढ़ जायगा ! जगत्के देशोंमें भारतवर्ष अनाचार, दुराचारमें सबसे आगे बढ़ा हुआ है, ऐसी मुहर लग जायगी ! अंग्रेजोंके इस देशमें आनेसे पूर्व भारतवर्ष तत्त्वज्ञानमें समग्र विश्वके लिये गुरुस्थानीय था, वही भारतवर्ष आज अनाचार और दुराचारमें सर्वोपरि हो रहा है ! इससे अधिक दुर्भाग्य और क्या हो सकता है। इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

साधारण प्रजामें विवेक-बुद्धि नहीं होती। इससे शासनकर्ता जिस ओर उसको चलाते हैं, उसी ओर वह सहज ही चलने लगती है। इसीका नाम है—'यथा राजा तथा प्रजा।' यहाँ राजाका अर्थ अमुक व्यक्ति नहीं, इसका अर्थ है जिसके हाथमें सत्ताके सूत्र हों, ऐसा एक या अनेक व्यक्ति। वे यदि त्यागका आदर्श रखते हैं तो प्रजा त्याग-प्रधान बन जाती है और भोग-विलासका आदर्श रखते हैं तो प्रजा अवश्य ही विलासी बन जाती है।

इस प्रकार आज पवित्र भारतवर्षका अधिकांश समाज पामरकी कोटिमें आ गया है। इससे बचना है तो यूरोप-अमेरिकाको गुरुस्थानसे हटाकर उसकी जगह अपने शास्त्रोंकी गुरुस्थानपर प्रतिष्ठा करनी होगी और इसीके साथ-साथ कर्मके सिद्धान्तमें, पुनर्जन्ममें, कर्मके अनुसार जन्म और भोगमें और ऐसे ही अन्यान्य शास्त्रोंके सिद्धान्तोंमें श्रद्धा-विश्वास रखकर उसके अनुकूल जीवन बनाना पड़ेगा।

अमुक कर्म करने योग्य है और अमुक नहीं, इसका निर्णय करनेके लिये शास्त्रोंकी शरणमें रहना पड़ेगा और उनके आदेशानुसार आचरण करना पड़ेगा। गीताके सोलहवें अध्यायका उपसंहार करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥२३॥

'जो मनुष्य शास्त्र-विधानका अनादर करके अपने सुखके लिये मनमाना आचरण करता है, वह कहीं भी सिद्धि प्राप्त नहीं करता—उसके मनोरथ सिद्ध नहीं होते। उसे सुख नहीं मिलता।' इतना ही नहीं, किंतु शास्त्रके विरुद्ध आचरण करनेसे उसका परलोक बिगड़ जाता है। मृत्युके बाद आजकी अपेक्षा भी उसकी बुरी दशा होती है। इसलिये हे अर्जुन!—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥२४॥

अतएव यह कर्म करना है या नहीं—इसके निर्णयके लिये शास्त्रका आश्रय लेना चाहिये और शास्त्रके विधानको जानकर तदनुसार ही कर्म करने चाहिये। ॐ भगवान् सबका मङ्गल करें।*

'नरहरिः कुरुतां जगतां शिवम्।'

* 'कल्याण' के पाठक जानते हैं श्रीस्वामीजी महाराजके लेख कितने विचारपूर्ण और प्रकाश देनेवाले होते हैं। इनके लेखोंके हिंदी अनुवादका एक संग्रह 'अध्यात्मपथप्रदर्शक' प्रथम खण्ड, नामसे प्रकाशित हुआ था, जिससे ज्ञानपिपासु हिंदीजगत्‌ने

एक महात्माका प्रसाद

[दुःख विकासकी भूमि है]

(संकलयिता—'माधव')

जो न चाहनेपर भी आ जाता है वही दुःख है और चाहते हुए भी चला जाता है वही सुख है। दुःख-सुखकी अनुभूति मानवमात्रको होती है। नवजात शिशु भूखसे पीड़ित होकर रोने लगता है। इस दृष्टिसे दुःख मानवकी सर्वप्रथम अनुभूति है। दुखीको देख किसी-न-किसीके हृदयमें करुणा अवश्य जाग्रत् होती है। करुणार्द्र मानव दुःखको अपनाता है और निज सुखको दुखीकी सेवामें व्यय करता है। दुखी दुःखकालमें पराधीनतासे व्यथित होता है। पराधीनताकी व्यथा स्वाधीनताकी लालसा जाग्रत् करती है। सुख न चाहते हुए भी चला जाता है, मानवमें केवल सुखासक्ति भले ही रहे, पर सुख तो चला ही जाता है। इस दृष्टिसे दुःखका आना और सुखका जाना वैधानिक तथ्य है।

अब विचार यह करना है कि दुःख क्यों है? यदि जीवनमेंसे दुःखका भाग निकाल दिया जाय तो न तो सुखका सम्पादन ही हो सकता है और न मानव सुखकी दासतासे रहित हो सकता है। सुखका सम्पादन और उसकी दासतासे रहित करनेमें दुःख ही हेतु है। दुःख मानवजीवनका आवश्यक अङ्ग है, फिर भी सभीको स्वभावसे प्रिय नहीं है।

दुःख-निवृत्तिका प्रश्न मानवका प्रश्न है, पर 'जब दुःख नहीं था तब मैं था' और यह अनुभव यदि होता तो दुःख कबसे आरम्भ हुआ और क्यों आरम्भ हुआ, इसका निर्णय सम्भव था। जबतक दुःखका सर्वांशमें अन्त न हो जाय, तबतक दुःखके कारणका बोध सम्भव नहीं है। इस दृष्टिसे दुःखके नाशका प्रश्न मौलिक प्रश्न है। सुख-लोलुपताके रहते हुए क्या किसी भी प्रकार दुःखका अन्त सम्भव है? कदापि नहीं। 'नहीं' की आसक्तिने ही मानवको उससे विमुख किया है जो सर्वकालमें है। दुःखके प्रभावसे प्रभावित बिना हुए सर्वांशमें सुखासक्तिका नाश सम्भव नहीं है। इस दृष्टिसे दुःख विकासकी भूमि है। दुःखका भय तभीतक रहता है, जबतक मानव पराधीनताजनित सुख-लोलुपतामें आबद्ध है। अतः दुःख पराधीनताका अन्त करनेके लिये बिना बुलाये आता है।

क्या इस निज-अनुभवसे यह स्पष्ट विदित नहीं होता कि जो दुःख पराधीनतासे रहित करनेके लिये आया है वह मङ्गलमय विधानसे आया है अथवा 'उस'की देन है, जो मानवको पराधीनतासे मुक्त करना चाहता है। मानव उसे भले ही न जाने, जिसने दुःखका निर्माण किया है। पर दुःखका प्रभाव मानवके लिये सर्वतोमुखी विकासमें हेतु है, यह स्वीकार करनेके लिये वह बाध्य है। कामनाकी अपूर्ति तथा पूर्तिमें ही दुःख-सुखका भास होता है। अर्थात् अहंता तथा ममतासे ही दुःख-सुखका जन्म होता है। अहं और मम अविवेक-सिद्ध हैं। निज-विवेकका आदर करनेपर अहं और मम शेष नहीं रहते और फिर दुःखका भय तथा सुखकी दासता भी नहीं रहती। सुखकी दासताका सर्वांशमें अन्त होते ही दुःख स्वतः नाश हो जाता है। इस दृष्टिसे निज विवेकका अनादर अर्थात् अपनी भूल ही मानवको सुख-दुःखमें आबद्ध करती है।

मानव साधक है। साधकपर दायित्व होता है और उसकी कोई माँग होती है। मानवेतर प्राणियोंमें कामना है, वे साधक नहीं हैं। इस कारण उनपर कोई दायित्व नहीं है। मानवमें मानवता तभीसे आरम्भ होती है, जब यह सुख-दुःखसे परेके जीवनकी खोज करता है। भौतिकवादकी दृष्टिसे कर्तव्यपरायणता, अध्यात्मवादकी दृष्टिसे असंगता और आस्तिकवादकी दृष्टिसे शरणागति ही सर्वतोमुखी विकासका मुख्य साधन है। दुःखनिवृत्ति, परमशान्ति, स्वाधीनता और प्रेमकी अभिव्यक्तिमें ही मानव-जीवनकी पूर्णता है।

लाभ उठाया। अब दूसरा खण्ड भी प्रकाशित हो गया है। दूसरे खण्डका मूल्य है डाकव्ययसमेत १.७५ पैसे। रजिस्टर्ड पोस्टसे मँगवानेपर ५५ पैसे अधिक लगेंगे यानी २.३० पैसे मूल्य होगा। दोनों खण्ड एक साथ मँगानेपर दोनोंका मूल्य तथा रजिस्ट्रीखर्च कुल मिलाकर रु० ४.५५ लगेंगे। जिन लोगोंको इन पवित्र तथा कल्याणकारी ग्रन्थोंसे लाभ उठाना हो वे श्रीनटवरलाल नवोरा द्वारा श्रीमदनमोहनजीकी हवेली, सिहोर (P. O. Sihor), सौराष्ट्रके पास मनीआर्डरसे रुपये भेजकर ग्रन्थ मँगवा लें। ये वी. पी. नहीं करते। —सम्पादक

अतः दुःखका आना, सुखका जाना मानव-हितकारी विधान है। दुःखसे भयभीत होना और सुखमें आबद्ध रहना मानवका प्रमाद है, जिसका अन्त करना मानवमात्रके लिये अनिवार्य है। दुःखके प्रभावने ही दुखीको दुःखहारीसे अभिन्न किया है। इस दृष्टिसे दुःख जीवनका बहुत ही आवश्यक अङ्ग है। दुःखसे वे ही भयभीत होते हैं जिन्हें दुःखहारीसे अभिन्नता नहीं होती है। दुःखका प्रभाव उनके लिये भी आवश्यक है, जिन्होंने दुःखहारीको आस्थापूर्वक स्वीकार नहीं किया। दुःखकी महिमासे ही मानव उसे जान पाते हैं जिन्होंने दुःखके प्रभावसे सुखासक्तिका सर्वांशमें अन्त कर दिया है। संदेहकी वेदनाने ही मानवको तत्त्वज्ञानसे अभिन्न किया है और पराधीनताकी पीड़ाने ही मानवको स्वाधीनता प्रदान की है। भोगजनित व्यथाने ही मानवको नित्य-योग प्रदान किया है। इस दृष्टिसे दुःखकी महिमा जितनी कही जाय कम है। जो मानव दुःखहारीसे अभिन्न हुए, उन्होंने दुःखको प्रियतमका संदेश जाना और जो 'है' से अभिन्न हुए उन्होंने दुःखको राग-निवृत्तिका सर्वोत्कृष्ट उपाय स्वीकार किया और जिन्होंने सेवा स्वीकार कर समताके साम्राज्यमें प्रवेश पाया, उन्होंने दुःखको विकासकी भूमि स्वीकार किया। जो सुख चाहते हुए भी चला गया, उसकी दासता बनाये रखना और जिस दुःखसे सर्वतोमुखी विकास हुआ उससे भयभीत होना, उसके प्रभावको न अपनाना प्रमादके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्राकृतिक नियमानुसार सुख देकर जो दुःख लिया जाता है, वह मानवको आनन्दसे अभिन्न करता है और जो दुःख देकर सुख सम्पादन किया जाता है वह मानवको घोर दुःखमें आबद्ध करता है। इस दृष्टिसे सजग तथा सावधान मानव प्राप्त सुखको देकर हर्ष-पूर्वक दुःखको अपनाते हैं और दुःख देकर सुखका सम्पादन नहीं करते हैं। सुख 'पर' की वस्तु है और दुःख 'अपनी' कारण कि, यदि सुखको अपनाया तो अपने ही द्वारा अपना सर्वनाश किया और यदि दुःखको अपनाया तो मानव सर्वतोमुखी विकासका अधिकारी हुआ। इस दृष्टिसे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि समस्त विकारोंकी भूमि सुखासक्ति और विकासकी भूमि दुःखका प्रभाव है।

प्राकृतिक नियमानुसार जो आता है वह अवश्य जाता है, पर आये हुएका सदुपयोग न करना मानवकी भूल है। रहता वही है जिसमें आने-जानेकी बात नहीं है। अतः जो आता-जाता है, उसका सदुपयोग दुखियोंकी सेवामें है और आये हुए दुःखका सदुपयोग अहं और ममके नाशमें है। जो मानव सुख आनेपर सेवापरायण नहीं होता, वह विवश होकर सुखासक्तिमें आबद्ध हो जाता है, जो विनाशका मूल है और जो मानव दुःख आनेपर अहं-ममका अन्त नहीं करता, वह बार-बार दुःखको भोगता है और भयभीत रहता है। इस दृष्टिसे दुःख-सुखमें जीवनबुद्धि स्वीकार करना भूल है और सुख-दुःखका सदुपयोग विकासका मूल है। पर यह रहस्य वे ही मानव जान पाते हैं, जिन्होंने मानव-जीवनका यथेष्ट अध्ययन किया है।

सुखका प्रलोभन जबतक रहता है, तबतक दुःख अवश्य आता है। सुखके भोगीको न चाहते हुए भी दुःख भोगना पड़ता है। इससे यह स्पष्ट विदित है कि पराधीनता तथा जडताजनित सुखासक्तिके रहते हुए दुःखका आना अनिवार्य है। जिसे दुःखका अन्त करना हो उसे पराधीनताजनित सुखका अन्त करना होगा। सुखका अंन्त दुःखके प्रभावके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार नहीं होता। प्राकृतिक नियमानुसार आया हुआ सुख चला ही जाता है, पर उसका प्रलोभन सुखके भोगीमें अङ्कित हो जाता है। उस प्रलोभनका नाश तभी होता है, जब दुःखका पूरा-पूरा प्रभाव हो जाय। दुःखके प्रभावको न अपनाना और उससे भयभीत रहना मानवकी भारी भूल है। इस भूलका अन्त करना प्रत्येक मानवके लिये अनिवार्य है। भूलको भूल जान लेनेसे ही भूलका नाश होता है। सुखके प्रलोभनने ही दुःखके भयको जन्म दिया है। दुःखकी वास्तविकताका अनुभव मानव-जीवनमें ही सम्भव है। इस दृष्टिसे दुःख मानव-जीवनका मुख्य अङ्ग है, पर मानवको दुःखसे भयभीत नहीं होना है और न सुखकी आशा रखकर उसका आवाहन करना है, अपितु दुःखकी वास्तविकताको अपनाकर सुख-दुःखसे अतीतके जीवनसे अभिन्न होना है। इस दृष्टिसे दुःख सर्वोत्कृष्टताकी ओर अग्रसर करनेमें हेतु है। भूलके अन्त करनेमें, सुख-लोलुपताके नाशमें, स्वाधीनताकी प्राप्तिमें, भोगकी वास्तविकताके परिचयमें और निर्विकारताकी अभिव्यक्तिमें दुःखका मुख्य स्थान है।

रामायणमें भरतकी अनुकरणीय परम श्रद्धा और प्रेम

(लेखक—ब्रह्मलीन पूज्य० श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा थे, यह बात सभी रामायणोंमें स्वीकार की गयी है। रामायणोंके सिवा पद्मपुराण, महाभारत आदिमें भी भगवान् श्रीरामके चरित्रोंका वर्णन आता है; किंतु उनमें संक्षेपसे है और रामायणोंमें बहुत विस्तारसे है। हमलोगोंको सभी रामायणोंमें वर्णित भगवान्के चरित्रोंसे लाभ उठाना चाहिये। उनमें तुलसीकृत रामचरितमानस, वाल्मीकीय रामायण और अध्यात्मरामायण तो प्रधान हैं ही। सीताजी और भाइयोंके सहित जो भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके आदर्श चरित्र हैं, वे सबके लिये अनुकरणीय हैं। जो मनुष्य श्रद्धेय पुरुषकी आज्ञाके अनुसार ही चलता है, वहीं श्रद्धालु है तथा उससे भी बढ़कर श्रद्धालु वह है, जो आज्ञाकी तो बात ही क्या, उनके संकेतके अनुसार चलता है। एवं वह तो परम श्रद्धालु है जो श्रद्धेयके मनके अनुसार चलता है। श्रीभरतजी परम श्रद्धा और परम प्रेमके आदर्श हैं, अतः हमलोगोंको उनका अनुकरण करना चाहिये। यहाँ भरतजीके परम श्रद्धा और परम प्रेमके सम्बन्धमें कुछ लिखा जाता है।

महाराज दशरथजीकी मृत्युके बाद जब भरत-शत्रुघ्न ननिहालसे अयोध्यामें आये तो वे माता कैकेयीसे मिलने गये और उनको वहाँ यह मालूम हुआ कि श्रीरामका वनगमन ही पिताकी मृत्युका कारण है। भरतजीने सोचा—'पिताजी सत्यवादी धर्मात्मा थे। माता कैकेयीने जो यह वरदान माँगा कि श्रीराम चौदह वर्षके लिये वनमें जायँ और भरत राज्य करें तथा पिताजीके बहुत समझानेपर भी माता कैकेयीने अपना हठ नहीं छोड़ा, तब पिताजीकी आज्ञा मानकर श्रीराम वनको चले गये। अतः श्रीराम, सीता और लक्ष्मणके वन-गमनमें मैं ही हेतु हूँ।' उस समय भरतजी श्रीराम-प्रेमके कारण पिताजीकी मृत्युको तो भूल गये और इस अनर्थमें अपनेको ही कारण जानकर सहम गये और मौन हो स्तम्भित हो गये।

> भरतहि बिसरेउ पितु मरन सुनत राम बन गौनु।
> हेतु अपनपउ जानि जियँ थकित रहे धरि मौनु॥
> (रा० च० मा० अयोध्या० १६०)

इसी बातको लेकर भरतजी माता कैकेयीसे न कहने योग्य वचन कहने लगे—'तू नहीं जानती कि मेरा श्रीरामचन्द्रजीके प्रति कैसा भाव है, तूने राज्यके लोभसे इतना अनर्थ कर डाला, तेरा मनोरथ बड़ा ही पापपूर्ण है। मैं तेरी इच्छा कभी पूर्ण नहीं करूँगा, मैं वनमें जाऊँगा और श्रीरामको वापस लौटा लाऊँगा। वे ही अयोध्याके राजा होनेके योग्य हैं। मैं तेरा मुख देखना नहीं चाहता। जहाँ तेरी इच्छा हो, वहीं चली जा। भगवान् राम तो सबका हित करते हैं। उन्होंने तेरा क्या अहित किया जो तूने उनको वन भेजकर न करने योग्य काम किया। जब तेरे हृदयमें श्रीरामको वनवास देनेका बुरा विचार आया, तभी तेरे हृदयके टुकड़े क्यों नहीं हो गये और वरदान माँगते समय जीभ गल क्यों नहीं गयी, मुँहमें कीड़े क्यों नहीं पड़ गये, श्रीरामजी तुझे वैरी कैसे लगे, तू कौन है? तू जो भी हो, अब मुँहमें स्याही पोतकर उठकर मेरी आँखोंकी ओटमें जा बैठ।'

उस समय जब मन्थरा सज-धजकर कैकेयीके पास महलमें आयी तो शत्रुघ्नजीने उसको लात मारी, जिससे उसका कूबड़ टूट गया। फिर जब वे आवेशमें आकर उसको जमीनपर घसीटने लगे, तब भरतजीने उनको मना कर दिया कि स्त्रियाँ अवध्य हैं, अतः तुम इसे

क्षमा कर दो। और यह भी कहा, 'यदि मुझे यह आशंका न होती कि धर्मात्मा श्रीराम मातृघाती समझकर मुझसे घृणा करने लगेंगे तो मैं इस दुष्ट आचरण करनेवाली पापिनी कैकेयीको मार डालता।'

हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम्।
यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम्॥

(वा० रा० अयोध्या० ७८। २२)

'इसलिये यह जो जीती है—श्रीरामजीकी कृपासे ही जीती है। श्रीरामजीको तो यदि मन्थराके मारे जानेका पता लग जाय तो वे मुझसे और तुझसे बोलना छोड़ देंगे।' भरतजीकी यह बात सुनकर शत्रुघ्नजीने उसको छोड़ दिया।

इसके बाद भरतजी माता कौसल्याके पास जाकर उनसे मिले और वहाँ ऐसी कठोर शपथें खाने लगे, जिससे माताका हृदय द्रवित हो गया। माता कौसल्याने कहा—

राम प्रानहु तें प्रान तुम्हारे।
तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु तें प्यारे॥
बिधु बिष चवै स्रवै हिमु आगी।
होइ बारिचर बारि बिरागी॥
भएँ ग्यानु बरु मिटै न मोहू।
तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू॥
मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं।
सो सपनेहुँ सुखु सुगति न लहहीं॥
अस कहि मातु भरतु हियँ लाए।
थन पय स्रवहिं नयन जल छाए॥

(रा० च० मा० अयोध्या० १६८। १-३)

माता कौसल्याके इन वचनोंसे पता लगता है कि भरतजीका श्रीरामके प्रति कितना अगाध प्रेम था।

पिताजीकी शास्त्रानुकूल और्ध्वदैहिक क्रिया करनेके बाद भरतजी राजसभामें आये। वहाँ माताओं, मन्त्रियों और माननीय पुरुषोंकी ओरसे वसिष्ठजीने भरतजीसे राज्य स्वीकार करनेके लिये अनुरोध किया; परंतु भरतजी अस्वीकार करते हुए बोले—'आपलोग तो मेरे भलेके लिये ही कहते होंगे, पर मुझे इसमें भला नहीं लगता, मुझे राजा बनाकर आप अपना भला चाहते हैं—यह आप स्नेहके वश होकर ही कहते हैं। मैं तो चित्रकूट जाकर श्रीरामके दर्शन करूँगा, इसीमें मेरा हित है। आप सब लोग मुझे इसके लिये आज्ञा प्रदान करें।'

जाउँ राम पहिं आयसु देहू।
एकहिं आँक मोर हित एहू॥
मोहि नृप करि भल आपन चहहू।
सोउ सनेह जड़ता बस कहहू॥

(रा० च० मा० अयोध्या० १७७। ४)

तदनन्तर अपनी दीनता और भगवान् रामके दयालु स्वभावका वर्णन करने लगे—

आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ।
देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ॥
जद्यपि मैं अनभल अपराधी।
भै मोहि कारन सकल उपाधी॥
तदपि सरन सनमुख मोहि देखी।
छमि सब करिहहिं कृपा बिसेषी॥
सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ।
कृपा सनेह सदन रघुराऊ॥
अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा।
मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा॥

(रा० च० मा० अयोध्या १८२। २३-२४)

भरतजीके ऐसे प्रेमभरे वचन सुनकर सभी मुग्ध हो गये और सभीने उनके प्रेमकी प्रशंसा की।

भरतहि कहहिं सराहि सराही। राम प्रेम मूरति तनु आही॥

(रा० च० मा० अयोध्या० १८३। २)

तदनन्तर भरतजीने माताओं, मन्त्रियों, प्रजाजनों और गुरु वसिष्ठजीके सहित चित्रकूटके लिये प्रस्थान किया। उस समय भरत-शत्रुघ्न पैदल ही चलने लगे। तब अन्य लोग भी घोड़े, हाथी, रथोंको छोड़कर पैदल चलने लगे। यह देखकर माता कौसल्याने भरतजीसे कहा—'तुम रथपर चढ़ जाओ।' दोनों भाई माताकी

आज्ञाको सिर चढ़ाकर, उनके चरणोंमें सिर नवाकर रथपर चढ़कर चलने लगे ।

आगे, जब वे श्रृंगवेरपुरके निकट पहुँचे तो निषादराज गुह उनके भावको जाननेके लिये भेंटकी सामग्री लेकर उनके पास आया । गुहने पूछा—'आपका इतनी बड़ी सेना लेकर चित्रकूट जानेका क्या प्रयोजन है ? मनमें बुरा भाव तो नहीं है ।' भरतने कहा—'निषादराज ! मैं कैकेयीका पुत्र हूँ, मुझपर जितनी शंका की जाय, उतनी थोड़ी है । मैं भगवान् श्रीरामको लौटाने जा रहा हूँ । यह सब भेंट-सामग्री तो भगवान् राम ही ले सकते हैं, मैं तो उनका सेवक हूँ ।'

फिर भरतने गुहसे कहा—'जहाँ भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने रात्रिमें शयन किया था, वह स्थान मैं देखना चाहता हूँ ।' निषाद उनको वहाँ ले गया ।

जहँ सिंसुपा पुनीत तर रघुबर किय बिश्रामु ।
अति सनेहँ सादर भरत कीन्हेउ दंड प्रनामु ॥
कुस साँथरी निहारि सुहाई ।
कीन्ह प्रनामु प्रदच्छिन जाई ॥
चरन रेख रज आँखिन्ह लाई ।
बनइ न कहत प्रीति अधिकाई ॥
कनक बिंदु दुइ चारिक देखे ।
राखे सीस सीय सम लेखे ॥
(रा० च० मा० अयोध्या० १९८ । १-२)

कैसा अद्भुत प्रेम है । इस प्रकार करते हुए भरतजीके नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी धारा बह चली और उनका हृदय द्रवित हो गया ।

वाल्मीकीय रामायणमें गुहने भरतसे बताया है—"मैंने भाँति-भाँतिके अन्न, अनेकों प्रकारके खाद्य पदार्थ और कई तरहके फल श्रीरामचन्द्रजीके पास भोजनके लिये पहुँचाये थे; पर उन्होंने मेरी दी हुई सब वस्तुएँ स्वीकार तो कर लीं; किंतु उन्हें ग्रहण नहीं किया, मुझे आदरपूर्वक लौटा दिया । फिर उन्होंने कहा—'हम-जैसे क्षत्रियोंको किसीसे कुछ लेना नहीं चाहिये, बल्कि सदा देना ही चाहिये ।' सीताजीसहित श्रीरामचन्द्रजीने उस रात उपवास ही किया । लक्ष्मण जो जल ले आये थे, केवल उसीको उन्होंने पीया और बचा हुआ जल लक्ष्मणने ग्रहण किया । तदनन्तर लक्ष्मणने स्वयं कुश लाकर सुन्दर बिछौना बनाया । उसीपर श्रीराम और सीता—दोनोंने रात्रिमें शयन किया था । लक्ष्मण रातभर पहरा देते रहे । मैं भी बन्धु-बान्धवोंके साथ पहरा देता रहा ।

"मैंने उनसे सोनेके लिये कहा किंतु वे बोले—जब श्रीरामजी और सीताजी पृथ्वीपर सो रहे हैं तो मेरा सोना कैसे हो सकता है ?" तब—

भरतजीने श्रीरामचन्द्रजीकी उस शय्याको देखकर कहा—'जिन सीताजीका दर्शन सूर्य, चन्द्रमा आदिको भी नहीं होता था, उनका दर्शन आज वनमें कोल-किरात, भील और मृगोंको होता है । जो सदा राजमहल-में मुलायम बिछौनोंपर सोया करती थीं, वे आज कुश-की शय्यापर सो रही हैं । इसका कारण मैं ही हूँ । मेरा यदि जन्म न होता तो श्रीसीताजी और श्रीरामजी-को यह कष्ट क्यों होता ।'

भरतजी एक रात वहाँ रहकर फिर गङ्गापार होकर आगे पैदल ही चलने लगे । तब सेवकोंने कहा—'नाथ ! आप घोड़ेपर सवार हो जाइये ।' इसपर भरतजी बोले—

रामु पयादेहि पायँ सिधाए ।
हम कहँ रथ गज बाजि बनाए ॥
सिर भर जाउँ उचित अस मोरा ।
सब तें सेवक धरमु कठोरा ॥

तत्पश्चात् भरतजी भरद्वाजजीके आश्रममें गये और उनको दण्डवत् प्रणाम किया । भरद्वाज ऋषि उनसे और वसिष्ठजीसे बहुत प्रेमपूर्वक मिले और फिर भरतसे बोले—'चित्रकूट जानेमें तुम्हारा क्या प्रयोजन है । तुम श्रीराम और लक्ष्मणका कोई अनिष्ट तो नहीं करना चाहते ?'

यह सुनकर भरतजीकी आँखें दुःखके कारण डबडबा आयीं और उन्होंने कहा—'मुने! आप तो महात्मा पुरुष हैं। आप तो सब कुछ जानते ही हैं। यदि आप भी मुझपर शंका करते हैं, मुझे इतना अधम समझते हैं, तब तो मैं हर तरहसे मारा गया।' भरद्वाजजी बोले—'भरत! मैं तपके बलसे जानता हूँ, तुम रामको वापस लाने जा रहे हो, मेरा बड़ा सौभाग्य है जो मुझे रामका दर्शन हुआ और रामके दर्शनका यह फल है जो मुझे तुम्हारा दर्शन हुआ।'

सब साधन कर सुफल सुहावा।
लखन राम सिय दरसनु पावा॥
तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा।
सहित पयाग सुभाग हमारा॥
(अयोध्या० २०९। २-३)

मुनिने फिर कहा—'रामने एक रात यहाँ निवास किया था, तुमको भी यहाँ रहना चाहिये।' भरतको एक दिन युगके समान प्रतीत होता था; किंतु भरद्वाजजीकी आज्ञा मानकर वहाँ निवास किया। भरद्वाजजीने वहाँ अपने तपोबलसे ऋद्धि-सिद्धियोंके द्वारा उन सबके लिये अलग-अलग महल, हाथी, घोड़े आदि तथा खाने-पीने, रहनेकी सब प्रकारकी सुख-सुविधा और नाना प्रकारकी भोग-सामग्रियाँ उत्पन्न करवाकर सेना और परिवारसहित भरतजीका बड़ा भारी आतिथ्य-सत्कार किया। सब लोग ऐसी विचित्र भोग-सामग्रियोंको देखकर हर्ष और विषादके वश हो गये। किंतु भरतजी भरद्वाजजीकी आज्ञासे रातभर भोग-सामग्रियोंके साथ रहकर भी उन्होंने उनका मनसे भी स्पर्श तक नहीं किया।

वाल्मीकीय रामायणमें लिखा है कि जब रात्रिका समय हुआ, तब भरतजीके लिये बनाये गये महलको देखकर उन्होंने उसे भगवान् श्रीरामके योग्य समझा और मनसे वहाँ भगवान् रामका आवाहन किया एवं भाई शत्रुघ्नके सहित वे भगवान् रामको सिंहासनपर विराजमान समझकर रातभर उनपर चँवर डुलाते रहे।

तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च।
भरतो मन्त्रिभिः सार्द्धमभ्यवर्तत राजवत्॥
आसनं पूजयामास रामायाभिप्रणम्य च।
वालव्यजनमादाय न्यषीदत्सचिवासने॥
(वा० रा० अयोध्या० ९१। ३८-३९)

भरतजीने उस राजमहलमें दिव्य राज्यसिंहासन, छत्र और चँवर भी देखे तथा मन्त्रियोंके साथ उन्होंने राजा रामकी भाँति उनका सम्मान किया। श्रीरामको प्रणाम करके उस आसनकी पूजा की और स्वयं हाथमें चँवर लेकर मन्त्रीके आसनपर जा बैठे। कितना निरभिमानता, त्याग और प्रेमका भाव है!

इस प्रकार रातभर वहाँ निवास करके प्रातःकाल वे चित्रकूटकी ओर चले गये, रास्तेमें ऋषि-मुनियोंसे और साधारण मनुष्योंसे भेंट करते हुए चित्रकूट पहुँचे। वहाँ चित्रकूटमें नदीके समीप सेनाको ठहराकर वे आगे गये। श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसमें वर्णन है, भरतजी, शत्रुघ्नजी और गुह—तीनों भगवान् रामकी खोजमें घूमते रहे। उस समय भरतजीके मनमें अनेक प्रकारके विचार आने लगे 'मैं कैकेयीका पुत्र हूँ, अतः माता कैकेयीकी करनीके कारण भगवान् राम कहीं इस वनको छोड़कर दूसरे वनमें न चले जायँ।'

समुझि मातु करतब सकुचाहीं।
करत कुतरक कोटि मन माहीं॥
रामु लखनु सिय सुनि मम नाऊँ।
उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ॥
(रा० च० मा० अयोध्या० २३२। ४)

मातु मते महुँ मानि मोहि जो कछु करहिं सो थोर।
अघ अवगुन छमि आदरहिं समुझि आपनी ओर॥
(रा० च० मा० अयोध्या० २३३)

उस समय भरतजीकी विचित्र दशा हो गयी। उनकी चाल जलके भँवरकी तरह हो गयी। माताकी करनीको

याद करनेसे पैर पीछे पड़ते थे, किंतु भक्तिके बलसे चले जा रहे थे; और भगवान्‌के स्वभावको याद करनेसे उनके पैर उतावले होते थे।

अस मन गुनत चले मग जाता।
सकुच सनेहँ सिथिल सब गाता॥
फेरति मनहुँ मातु कृत खोरी।
चलत भगति बल धीरज धोरी॥
जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ।
तब पथ परत उताइल पाऊ॥
भरत दसा तेहि अवसर कैसी।
जल प्रबाहँ जल अलि गति जैसी॥
देखि भरत कर सोचु सनेहू।
भा निषाद तेहि समयँ बिदेहू॥
(रा० च० मा० अयोध्या० २३३। २–४)

गुह तो उस समय प्रेममें मुग्ध हो जडवत् हो गया। आगे चलते-चलते एक टीलेपर चढ़कर दूरसे ही देखा कि एक वृक्षके नीचे वेदी—चबूतरेपर श्रीराम, लक्ष्मण, सीता और ऋषि-मुनि बैठे हैं, वह दृश्य देखते ही गुहने भरतजीसे सब बतलाया। भरतजी प्रेममें मुग्ध होकर वहींसे भगवान् श्रीरामको नमस्कार करते हुए चले। मार्गमें उन्हें भगवान् रामके चरणोंके चिह्न मिले। भरतजी भगवान्‌के चरणोंकी धूलि उठाकर प्रेममें मग्न हो हृदयमें, आँखोंमें और सिरमें लगाने लगे।

हरषहिं निरखि राम पद अंका।
मानहुँ पारसु पायउ रंका॥
रज सिर धरि हियँ नयनन्हि लावहिं।
रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥
(रा० च० मा० अयोध्या० २३७। २)

भरतजीके ऐसे प्रेम-भावको देखकर सभी प्रेममें निमग्न हो गये। जड चेतन और चेतन जड हो गये। वहाँ पहुँचनेपर भरतजीने 'हे नाथ! रक्षा कीजिये। रक्षा कीजिये।' यों कहते हुए दण्डवत्-प्रणाम किया। ऐसा करते हुए उनको लक्ष्मणजीने देखा। भरतजी श्रीरामकी विरह-व्याकुलतामें इतने कृश हो गये थे कि लक्ष्मणजी भरतजीको पहचान नहीं सके, उनकी बोलीसे ही पहचाना कि भरतजी प्रणाम कर रहे हैं। उस समय लक्ष्मणजी भरतजीसे मिलना चाहते थे; पर यह सोचकर कि भगवान्‌की सेवामें बाधा आ जायगी—वे भरतजीकी ओर नहीं गये और भगवान्‌की सेवा करते रहे; फिर भगवान्‌को नमस्कार करके लक्ष्मणजीने कहा—'नाथ! भरतजी आपको प्रणाम कर रहे हैं।' यह सुनते ही भगवान् प्रेममें अधीर होकर उठे। वे धनुष-बाण, तरकस और वस्त्रोंको भी सम्हाल नहीं सके तथा भरतजीको उठाकर हृदयसे लगा लिया। दोनोंके उस प्रेमभावको देखकर सब अपनी सुध भूल गये। उस समयका उनका प्रेम-मिलन अवर्णनीय था।

मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी।
कबिकुल अगम करम मन बानी॥
परम प्रेम पूरन दोउ भाई।
मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥
(रा० च० मा० अयोध्या० २४०। १)

फिर भगवान् रामने भरतजीसे पूछा—'कैसे आये हो?' भरतजीने उत्तर दिया—'मैं अकेला नहीं हूँ, माताएँ, मन्त्रीगण, वसिष्ठजी आदि भी साथ हैं। आपके सत्संगमें बाधा न आवे, इसलिये उन सबको चित्रकूटमें नदीके पास ठहरा दिया है।' जब भगवान् रामने सुना कि माताएँ और वसिष्ठजी भी आये हैं, तब वे शत्रुघ्नजीको सीताके पास ठहराकर लक्ष्मण, भरत और गुहके साथ वहाँ आये, जहाँ माताएँ और वसिष्ठजी आदि ठहरे हुए थे। आकर उन्होंने मुनियों और माताओंको प्रणाम किया तथा माताओंको विधवा-वेषमें देखकर पूछा—'माताओंका यह वेष क्यों?' वसिष्ठजीने बतलाया—'महाराज दशरथ परलोक सिधार गये।' पिताजीकी मृत्युका समाचार सुनकर श्रीरामजीने पिताजीकी शास्त्रविहित क्रिया की। श्रीरामजीने सोचा—'जो अन्न अपने खानेका होता है, वही देवताओं और पितरोंको दिया जाता है'—ऐसा सोचकर उन्होंने दुःखित हृदयसे इंगुदीके गूदेमें बेर

मिलाकर उसके पिण्ड दिये तथा उस दिन सबने उपवास किया ।

तत्पश्चात् जब सब लोग एकत्र हुए, तब वसिष्ठजीने भरतसे कहा—'तुम और शत्रुघ्न तो वनको चले जाओ और राम, लक्ष्मण तथा सीताको अयोध्या लौटा दिया जाय ।'

तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई ।
फेरिअहिं लखन सीय रघुराई ॥
(रा० च० मा० अयोध्या० २५५ । २)

यह सुनकर भरतजी बहुत ही प्रसन्न हुए ।

सुनि सुबचन हरषे दोउ भ्राता ।
भे प्रमोद परिपूरन गाता ॥
(रा० च० मा० अयोध्या० २५५ । ३)

और फिर भगवान् रामसे बोले—'हम सभी आपको अयोध्या ले जानेके लिये आये हैं ।' भगवान् रामने कहा—'भरत ! यह पिताजीकी आज्ञा है । उन्होंने मुझको वनका राज्य दिया है और तुमको अयोध्याका; फिर भी तुम संकोच छोड़कर जो कहो, वैसे ही मैं करनेको तैयार हूँ ।' भरतजी बोले—'प्रभो ! आपको संकोचमें डालना मेरा कर्तव्य नहीं है, आप ही संकोच छोड़कर प्रसन्नतापूर्वक मुझे आज्ञा करें, मैं उसीको सिरपर धारण करके करूँगा ।' फिर उन्होंने अपने आधारके लिये भगवान्के चरणोंकी पादुका माँग ली और चरणपादुकाको सिरपर धारण करके लौटते समय कहा—'यदि आप चौदह वर्षकी अवधिपर नहीं पहुँचेंगे तो पंद्रहवें वर्षके पहले दिन ही मैं अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा ।' भगवान् बोले—'मैं ठीक समयपर पहुँचा रहूँगा ।'

तदनन्तर भरतजीने नन्दिग्राममें आकर चौदह वर्षतक मुनियोंके वेषमें जटा रखते हुए ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक जमीनपर ही निवास किया और भगवान्की चरण-पादुकाको सिंहासनपर रखकर उनकी नित्य पूजा-उपासना करते रहे । अन्तमें जब चौदह वर्षकी अवधिका एक दिन शेष रह गया, तब वे व्याकुल होकर विचार करने लगे—'भगवान् राम क्यों नहीं आये, उनके न आनेमें मैं ही कारण हूँ । लक्ष्मणका अहोभाग्य है जो उनके साथ गये । भगवान् मुझको कपटी और कुटिल जानकर साथ नहीं ले गये; किंतु भगवान्का स्वभाव बड़ा ही दयालु है । वे मेरे दोषोंको नहीं देखते हैं । वे दीनबन्धु हैं, इसलिये मुझे विश्वास है कि वे मुझे जरूर मिलेंगे । यदि वे नहीं मिलेंगे तो मेरे प्राण नहीं रहेंगे । यदि उनके न मिलनेपर मेरे प्राण रह जायँ तो मेरे समान कोई अधम नहीं; क्योंकि मैं यदि उनके न आनेपर अग्निमें प्रवेश करके प्राण-त्याग करूँ तो यह तो एक प्रकारसे आत्महत्याके समान होगा । यदि मेरा सच्चा प्रेम होगा तो मेरे प्राण नहीं रहेंगे ।' इस प्रकार वे भगवान्के विरहमें व्याकुल हो गये । कैसा अद्भुत प्रेम है ।

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत ।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत ॥
बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृसगात ।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात ॥
(रा० च० मा० उत्तर० १ । क, ख)

उनकी इस अवस्थाको देखकर हनुमान्जी हर्षित हो गये और भरतजीसे बोले—'सीताजी और लक्ष्मणजी-सहित भगवान् राम आ रहे हैं ।' यह शुभ-संवाद सुनकर भरतजीके आनन्दकी सीमा नहीं रही और पूछा—

को तुम्ह तात कहाँ ते आए । मोहि परम प्रिय बचन सुनाए ॥
(रा० च० मा० उत्तर० १ । ४)

हनुमान्जीने बताया—'मैं भगवान् रामका दास हूँ ।' यह सुनते ही भरतजी उनसे बहुत आदरसे मिले और उनके हृदयमें प्रेम उमड़ पड़ा ।

मारुत सुत मैं कपि हनुमाना ।
नाम मोर सुनु कृपानिधाना ॥
दीनबंधु रघुपति कर किंकर ।
सुनत भरत भेंटेउ उठि सादर ॥
मिलत प्रेम नहिं हृदयँ समाता ।
नयन स्रवत जल पुलकित गाता ॥
(रा० च० मा० उत्तर० १ । ३-४ ५)

भरतजीने हनुमान्‌जीसे कहा—'मैं तुम्हें क्या पुरस्कार दूँ। इस संदेशके बदलेमें देने योग्य संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं, अतः मैं तुमसे उऋण नहीं हो सकता।'

एहि संदेस सरिस जग माहीं।
करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥
नाहिन तात उरिन मैं तोही।
अब प्रभु चरित सुनावहु मोही॥
तब हनुमान नाइ पद माथा।
कहे सकल रघुपति गुन गाथा॥
(रा० च० मा० उत्तर० १। ६-७)

हनुमान्‌जी भरतजीके प्रेमको देखकर मुग्ध हो गये और वापस शृंगवेरपुर जाकर उन्होंने भगवान्‌को सब कथा सुनायी। तब भगवान् राम विमानमें बैठकर आये। सुग्रीव आदिसे कहते रहे—'यह सरयू है, इसमें स्नान करनेसे मनुष्यको मेरा सामीप्य प्राप्त होता है। यह मेरी जन्म-भूमि अयोध्या नगरी है, इसके समान मुझे वैकुण्ठ भी प्रिय नहीं है, इस रहस्यको कोई-कोई जानते हैं।' फिर भगवान् राम वहाँ पहुँचकर माताओंसे और वसिष्ठजीसे मिले, सब गुरुजनोंके चरणोंमें नमस्कार किया तथा फिर भरतजी और शत्रुघ्नजीसे मिले। उस समय भरतजी-ने भगवान् रामके चरण पकड़ लिये और प्रेम-मग्न हो पृथ्वीपर पड़े रहे। भगवान्‌ने ही उनको जबरदस्ती उठाकर हृदयसे लगा लिया।

उस समय दोनों भाइयोंके रोंगटे खड़े हो गये और प्रेमाश्रुओंकी धारा बहने लगी।

गहे भरत पुनि प्रभु पद पंकज।
नमत जिन्हहि सुर मुनि संकर अज॥
परे भूमि नहिं उठत उठाए।
बर करि कृपासिंधु उर लाए॥
स्यामल गात रोम भए ठाढ़े।
नव राजीव नयन जल बाढ़े॥
राजीव लोचन स्रवत जल तन ललित पुलकावलि बनी।
अति प्रेम हृदयँ लगाइ अनुजहि मिले प्रभु त्रिभुवन धनी॥
प्रभु मिलत अनुजहि सोह मो पहिं जाति नहिं उपमा कही।
जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिले बर सुषमा लही॥
(रा० च० मा० उत्तर० ४। ३-४ तथा छंद १)

इस प्रकार भरतजीका सारा जीवन ही श्रद्धा और प्रेमसे भरा हुआ है। वास्तवमें भरतजी परम श्रद्धा और परम प्रेमकी मूर्ति ही थे। उनके प्राणोंकी रक्षा उनकी परम श्रद्धासे ही हुई। उन्होंने भगवान् रामकी आज्ञाका पालन करनेके लिये ही विवश होकर भगवान्‌के वियोग-में चौदह वर्षकी इतनी लंबी अवधि बिता दी। भगवान् राम भरतजीके प्रेमको जानते थे, इसीसे वे लंका-विजयके पश्चात् भरतसे मिलनेके लिये अधीर हो गये थे। उस समय उन्होंने भक्त विभीषणसे कहा था—

भरत दसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात॥
बीते अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥
(रा० च० मा० लंका० ११६ क-ग)

उधर भरतजी भगवान्‌के विरहमें अत्यन्त व्याकुल थे तो इधर भगवान् राम भरतजीसे मिलनेके लिये अत्यन्त आतुर थे—भगवान्‌का यह तो नियम ही है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
(गीता ४। ११ का पूर्वार्ध)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

इन दोनोंका ही परस्पर अलौकिक प्रेमाधार है। वास्तवमें वे दोनों अभिन्नहृदय थे। स्वयं भगवान् रामने हनुमान्‌जीसे कहा था—

तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ। भरतहि मोहि कछु अंतर काऊ॥
(रा० च० मा० उत्तर० ३५। ३)

अतएव हमलोगोंको भरतजीके परम श्रद्धा और परम प्रेमसे ओत-प्रोत परम पवित्र आदर्श चरित्रोंको भलीभाँति श्रवण, पठन और मनन करके उनके अनुसार भगवान्‌में परम श्रद्धा और अनन्य प्रेम करना चाहिये।

यथार्थ दृष्टि तथा सत्यदर्शन

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

द्रष्टाकी जैसी दृष्टि होती है, वैसा ही दर्शन होता है। दृष्टिके आगे जिस रंगका शीशा होता है उसी रंगका दृश्य प्रतीत होता है। दृष्टिसे ही भोग होता है, मानस-रोगोंकी वृद्धि होती है तथा योगानुभव होता है। अपनी दृष्टिसे संसारमें सभी प्राणी सुखसे पूर्ण तृप्त रहना चाहते हैं, दुःख किसीको भी प्रिय नहीं है। पर जिस सुखके लिये बड़े-बड़े प्रयत्न किये जाते हैं वह चाहे जाते हुए भी छिनता रहता है और दुःख न चाहे जाते हुए भी आता ही रहता है। ऐसा कोई सुखी दीखता ही नहीं है, जिसे दुःखका भय न हो। साधारण रूपसे देखनेमें सहस्रों प्राणी अपने प्रिय संयोग, अभीष्ट लाभ और सम्मान तथा विषयोपभोगसे रात-दिन सुखी दीखते हैं, पर प्रत्येक सुखीके संयोग, लाभ और शारीरिक जीवनका अन्त क्रमशः वियोग, हानि और मृत्युमें होता ही है। अपनी-अपनी दृष्टिसे प्राणी जहाँ कहीं सुख मान रहे हैं, वहाँ उसका अभाव ही है। प्रत्येक प्राणीको जो कुछ भी सुखका आधार मिला है, वह सदा नहीं रहेगा। उसके परापेक्षी सुखका अन्त एक-न-एक दिन दुःखमें ही होना निश्चित है। आश्चर्यकी बात तो यह है कि जिस सुखके पीछे प्राणी दुखी होता है उसीके लिये वह फिर अनवरत प्रयास करता रहता है। इस तरहकी मूढ़ता अशिक्षितोंको ही नहीं, बड़े-बड़े शिक्षितों और विद्वानोंको भी मोहित बनाये रहती है।

सुखोपभोगका लालच ही हमें वस्तु तथा व्यक्तिके संयोगकी दासतामें बाँधे रखता है, भयातुर बनाता है। इस तरह सुखके लालच और दुःखके भयसे ही हम-लोग कभी पुण्यकर्म करते हैं तो कभी अनेक पाप—अपराध भी कर बैठते हैं। सुखोपभोगके लालच और दुःखके भय बुद्धिको स्थिर नहीं होने देते। सुखका अन्त दुःखमें देखकर किसी भोगीको योगी होनेके लिये उसकी बुद्धिका स्थिर होना परमावश्यक है। बुद्धिको स्थिर करनेके लिये वैराग्य, अभ्यास, त्याग, ज्ञान और प्रेमकी पूर्णता अनिवार्य है।

यह देखकर भी महान् आश्चर्य होता है कि संत-महात्माओंके संग और सत्कथा-श्रवणके द्वारा वैराग्य, अभ्यास, त्याग, ज्ञान और प्रेमकी कमीका ज्ञान होनेपर भी साधक इनकी पूर्णताका समुचित प्रयत्न नहीं करते, इसके विपरीत धन, मान तथा भोग-वस्तुकी पूर्तिके लिये रात-दिन चिन्तित रहते हैं। कुछ ऐसे भी साधक हैं जो प्रत्येक सुखोपभोगके अन्तमें दुःखका दर्शन करते हुए भोगी न रहकर योगी होना चाहते हैं, उनका ध्यान किसी आदर्श विरागी, त्यागी, अभ्यासी और ज्ञानी तथा प्रेमी भक्तकी ओर जाता है; ऐसे साधक किसीके ऐकान्तिक वैराग्यको देखकर आकृष्ट होते हैं, पर उसका-सा वैराग्य तो धारण नहीं कर पाते। प्रत्युत उस विरागीके ही रागी बन जाते हैं। इसी तरह कोई साधक किसी योगाभ्यासीकी अभ्यास-विधिपर आकर्षित होते हुए उसे तो नहीं ग्रहण कर पाता, उस योगाभ्यासी-के निकट रहनेका ही अभ्यासी बन जाता है। कोई साधक किसीके आदर्श त्यागमें मुग्ध होते हुए उसके समान स्वयं त्यागी नहीं हो पाता, उस त्यागीका ही रागी बनकर अपनी प्रीतिको व्यक्तित्वमें सीमित कर बैठता है। कोई साधक ऐसा भी दीखता है जो अपनेमें यथार्थ ज्ञानकी कमीका अनुभव करते हुए किसीके कलात्मक प्रवचनको सुनकर उसे महान् ज्ञानी मानकर उसकी शरण लेता है, पर बड़े ही आश्चर्यका विषय है कि वह भी उस ज्ञानीके संगसे अपने अन्तरमें ज्ञानज्योति प्रकाशित न करते हुए केवल ज्ञानीको

देखते हुए संतोष मानता है, उसीका मोही हो जाता है। सहस्रों साधकोंकी इस तरहकी मोहमयी दुर्दशाको देखकर कृपालु गुरुजन उन्हें सावधान करते हैं कि परमार्थ-पथमें चलनेवाले जबतक इन्द्रिय तथा मनके द्वारा प्रतीत होनेवाले विषय-सुखके आस्वादसे विरक्त न बनेंगे, तबतक आदर्श विरागी, योगाभ्यासी, त्यागी और ज्ञानी अथवा प्रेमीका संयोग प्राप्त होनेपर भी उनके भोगी ही बनते रहेंगे, उनके द्वारा योगी न हो सकेंगे।

किसीमें आदर्श विराग, सिद्धिदायक अभ्यास, शान्तिप्रद पूर्ण त्याग तथा आनन्दमय प्रेमका दर्शन बुद्धि-दृष्टिसे होता है, पर उसी स्थानमें विरागके साथ विरागी, अभ्यासके साथ अभ्यासी, ज्ञानके साथ ज्ञानी तथा प्रेमके साथ प्रेमी और भक्तिके साथ भक्तका दर्शन इन्द्रिय-दृष्टिसे होता है। यह गुरु-निर्देश है कि सावधान होकर बुद्धि-दृष्टिसे दीखनेवाले विराग, अभ्यास, पूर्ण त्याग तथा तत्त्वज्ञान एवं प्रभु-प्रेमको अपनानेसे साधक स्वयं विरागी, अभ्यासी, त्यागी, तत्त्वज्ञानी और प्रभुप्रेमी बन जायँगे, इसके विपरीत इन्द्रिय-दृष्टिसे प्रतीत होनेवाले विरागी, अभ्यासी, त्यागी तथा तत्त्वज्ञानी और प्रेमीके व्यक्तित्वसे ही मोह करेंगे तो असत्, अनित्यके भोगी बने रहकर नित्य सत्यके योगसे वञ्चित रह जायँगे।

यद्यपि किसी विरागी, योगाभ्यासी, आदर्श त्यागी और तत्त्वज्ञानी अथवा भगवत्प्रेमीमें प्रगाढ़ श्रद्धा होनेपर साधकपर उसके व्यक्तित्वका प्रभाव पड़ता ही है, पवित्र संगके प्रभावसे पवित्र भाव-विचारका अवतरण होता ही है तथापि किसी विरागी, योगाभ्यासी, त्यागी, भगवदनुरागीके मनमें यदि सांसारिक वासना, कामना अथवा धन-मान-सुखोपभोगकी तृष्णा छिपी रहती है तो उसके संगसे सद्गतिके स्थानमें दुर्गति भी हो सकती है; इसलिये साधकको सरल भावसे सर्वसमर्थ प्रभुकी ही शरण लेनी चाहिये; ज्ञान और संगका अभिमान छोड़ देना चाहिये।

ज्ञानका अभिमान रखनेवाले अनेक बुद्धिमान् विद्वान् साधन-पथमें अधिक भटकते देखे जाते हैं। ऐसे व्यक्ति अपने ज्ञानके अभिमानमें किसी साधुके स्थूल हृष्ट-पुष्ट देहमें मुग्ध होकर ही उसे सिद्ध महात्मा मान लेते हैं, किसी साधु-संन्यासीकी प्रवचन-कलामें आकर्षित होकर उसे प्रवचनके मध्य अंग्रेजी-फारसीके वाक्योंका प्रयोग करते देखकर महान् विद्वान् महात्मा समझ लेते हैं; किसी तपस्वीके नग्न शरीरमें वस्त्र न देखकर तथा मौन पाकर ही उसके सिद्ध तथा महान् तपस्वी होनेका अनुमान कर लेते हैं, किसी साधुको हरिनामध्वनिके साथ अश्रुपात तथा नृत्य करते और मूर्च्छित होते देखकर महान् भक्त होनेका निर्णय कर लेते हैं और अपनी समग्र श्रद्धा प्रकटकर उसका शिष्यत्व स्वीकार करते हैं, उसमें प्रीति होनेके कारण प्रायः दीखनेवाले दोषोंमें भी गुणकी प्रतिष्ठा करते रहते हैं; पर यदि कोई व्यक्ति दम्भी, भोगार्थी तथा धनार्थी है तो वह कुछ समयतक भले ही किसीको धोखा दे सकता है, वह सदा ऐसा नहीं कर सकता; कभी-न-कभी दम्भ अथवा पाखण्ड प्रकट हो ही जाता है। कोई साधक जिज्ञासु अपने प्रमाद तथा ज्ञानके अभिमानवश किसीसे कुछ समयतक भले ही धोखा खा सकता है; वह भी सदाके लिये धोखेमें नहीं रह सकता, सर्वसमर्थ प्रभुके विधानसे उसे यथार्थ ज्ञान होगा ही।

यथार्थ ज्ञानमें अहंकार बहुत ही बाधक है। बुद्धिकी सीमाके भीतर जो कुछ भी आ जाता है उसी-का अहंकार होता है। चाहे देहका बल हो, चाहे सुन्दर रूप हो, चाहे विद्या, तप या त्याग हो, चाहे शास्त्र-वेदका ज्ञान ही हो, सब कुछ बुद्धिकी सीमामें अहंकारको ही पुष्ट करता है। यह अहंकार ही रागवश भोगी बनता है, ज्ञानद्वारा योगी होता है। 'मैं हूँ'— यह असंग अहंका बोध है। इसी 'मैं हूँ' के बीच

जब कुछ मिल जाता है तब अहंका आकार अथवा अहंकार बन जाता है। यह अहंकार ही अपना परिचय देता है 'कि मैं इस नाम, जाति अथवा वर्णका हूँ, बलवान्, धनवान्, तपस्वी, त्यागी, विद्वान् और ज्ञानवान् हूँ।' यह अहंकार ही सत्यदर्शनमें बाधक बनता है। यह 'मैं' अपने साथ कुछ मिलाकर या किसी वस्तु, व्यक्ति या अवस्था अथवा परिस्थितिसे मिलकर जब अहंकार बन जाता है, तभी अपने स्वरूपको भूलकर यह जो कुछ भी सम्मुख देखता है, उसके रूपको भी नहीं पहचान पाता; इसे किसी भी दृश्यपदार्थका यथार्थ ज्ञान नहीं होता, प्रत्युत ज्ञानका अभिमान होता है। यह अहंकार न स्वार्थको जानता है, न परमार्थ ही समझता है; इसीलिये सुखके पीछे दुःख भोगता है, लाभके पीछे हानि देखता है, सम्मानके पीछे दीन—पराधीन हो जाता है, संयोगके पीछे वियोगसे पीड़ित होता है और माने हुए जीवनके पीछे मृत्यु देखता है। जहाँ यह अहंकार अपने आगे एक विशाल संसार देखता है पर अपने पीछे परमाश्रयको नहीं देख पाता, वहीं अनन्तकी अहैतुकी कृपासे बार-बार बलात् आनेवाले दुःखोंके तापसे तपकर कभी-न-कभी इसे यथार्थ दृष्टि—दूरदृष्टि अथवा सत्यदर्शकदृष्टि प्राप्त होती है और तभी यह अनित्यके साथ ही नित्य तत्त्व, असत्के साथ सत् तत्त्व तथा परके साथ ही स्व-तत्त्वको साक्षात्कार करने लगता है।

किसी साधकको भगवान्के मनोऽभिलषित दर्शन हो जायँ पर देखनेकी यथार्थदृष्टि प्राप्त न हो तो इन्द्रिय-दृष्टि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धके आगे नहीं जा सकती; साधकका परम कल्याण तो बुद्धिदृष्टि, आत्मदृष्टि अथवा दिव्यदृष्टि प्राप्त होनेपर ही सम्भव है। कोई साधक मूर्खों तथा अशिक्षितोंकी दृष्टिमें महान् विद्वान् भले ही बन जाय, निर्बलोंकी दृष्टिमें महान् बलवान् भले ही हो जाय, मन्द दृष्टिवालोंके कहनेसे उसे भले ही त्रिकालदर्शी मान लिया जाय, विषयासक्त, भोगी, आशापाशबद्ध जनोंके लिये भले ही मुक्त महान् संत गुरुपदमें प्रतिष्ठित हो जाय पर अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग किये बिना उसे परम शान्ति नहीं मिल सकती। किसी भी प्रकारका संगाभिमान रहते वह बन्धनमुक्त नहीं हो सकता। परमात्मासे तनिक भी भिन्नता रहते वह भक्त नहीं हो सकता। यह निर्णय तत्त्ववेत्ताओं और बुद्धियोगियोंका है।

मनके संयोगसे शब्द, स्पर्श, रूप, रसादि विषयका भोग होता है। बुद्धियोग सुलभ होनेपर भोगके परिणाम-का दर्शन होता है। भोगवृत्ति ही दर्शनकी दृष्टिको आवृत किये रहती है। जबतक कहीं हर्ष होता है, शोक, राग या द्वेष होता है, जबतक भय-चिन्ता, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंकी विषमता रहती है तबतक साधक ठीक भजन नहीं कर पाता; क्योंकि वह भोगी है, योगी नहीं है। कोई भी साधक प्राप्त शक्ति और योग्यताका परहितमें सदुपयोग करते हुए भोगकी सीमा पारकर बुद्धियोगी हो सकता है। वह यदि ऐसा नहीं कर सकता है तो प्रीतिपूर्वक परमप्रभुके स्मरण-चिन्तन-भजन-से उन्हींकी कृपाके द्वारा बुद्धियोगी हो सकता है। जबतक अहंकार शक्ति, सम्पत्ति, योग्यता, विद्या, तप, त्याग और ज्ञानका भोग करता है, तबतक योग नहीं हो सकता। नित्ययोगकी निरन्तर अनुभूतिमें भोगासक्ति ही बाधक है; इन्द्रिय-दृष्टिसे विषयजनित सुखको सत्य मान लेना ही भोगासक्तिमें सहायक है, इन्द्रिय-दृष्टिसे विषय-ग्रहण होता है, मनके संयोगसे भोग होता है; बुद्धियोगसे उसी भोगके परिणामका दर्शन होता है। यथार्थदर्शी ही त्यागी होता है, पूर्ण त्यागी ही प्रेमकी पूर्णता प्राप्त करता है। पूर्ण त्यागी तथा पूर्ण प्रेमीके ही द्वारा परम पद प्राप्त किया जाता है।

धन-शक्ति

[महायोगी श्रीअरविन्द]

धनके चाहनेवाले या रखनेवाले धनके स्वामी तो क्या होते हैं, अधिकतर धनके दास ही होते हैं। धन जो बहुत कालसे असुरोंके हाथोंमें रहा और इसका जो बराबर दुरुपयोग हुआ, इससे इसपर दोषकी एक ऐसी गहरी छाप लगी हुई है कि उससे कोई मुश्किलसे ही बचता हो। इसीलिये प्रायः सभी आध्यात्मिक साधन-मार्गोंमें पूर्ण संयम, अनासक्ति और धनके सब बन्धनों तथा प्रत्येक प्रकारकी वैयक्तिक और अहंकार-युक्त वित्तैषणाके त्यागपर इतना जोर दिया जाता है। कुछ साधन-मार्ग तो धन-वैभवको पाप ही समझते हैं और यह बतलाते हैं कि दरिद्रता और अपरिग्रहका होना ही आध्यात्मिक स्थिति है। पर यह भूल है। इससे यह शक्ति दानवी शक्तियोंके हाथोंमें ही रह जाती है। इसका भगवान्‌के लिये पुनरुद्धार करना; क्योंकि यह भगवान्‌की है और भागवत जीवनके लिये भागवत-भावसे इसका उपयोग करना साधकका विज्ञानमूलक मार्ग है।

धनशक्ति और उससे प्राप्त होनेवाले साधनों और पदार्थोंसे तुम्हें वैरागियोंकी तरह भागना न चाहिये और न इनकी कोई राजसी आसक्ति या इनके भोगमें पड़े रहनेकी दासत्व-वृत्तिका ही पोषण करना चाहिये। धनको केवल यह समझो कि यह एक शक्ति है, जिसे माताकी सेवाके लिये जीतकर लौटा लाना है और उन्हींकी सेवामें अर्पण कर देना है।

सारा धन भगवान्‌का है और यह जिन लोगोंके हाथोंमें है, वे उसके ट्रस्टी (रक्षक) हैं, मालिक नहीं। आज यह उनके पास है, कल कहीं और चला जा सकता है। जबतक यह इनके पास है, तबतक ये इस ट्रस्टका पालन कैसे करते हैं, किस भावसे करते हैं, किस बुद्धिसे उसका उपयोग करते हैं और किस काममें करते हैं—इसीपर सब कुछ निर्भर करता है।

अपने लिये जब तुम धनका उपयोग न करो। जो कुछ तुम्हारे पास है, जो कुछ तुम्हें मिलता है या जो कुछ तुम ले आते हो, उसे माताका समझो। स्वयं कुछ भी मत चाहो; पर वे जो कुछ दें, उसे स्वीकार करो और उसी काममें उसे लगाओ, जिसके लिये वह तुम्हें दिया गया हो। नितान्त निःस्वार्थ, सर्वथा न्यायनिष्ठ, ठीक-ठीक हिसाब रखनेवाले तफसीलकी एक-एक बातका ध्यान रखनेवाले उत्तम ट्रस्टी बनो। सदा यह ध्यान रक्खो कि तुम जिस धनका उपयोग कर रहे हो, वह उनका है, तुम्हारा नहीं। फिर उनके लिये जो कुछ तुम्हें मिले, उसे श्रद्धाके साथ उनके सामने रक्खो, अपने या और किसीके काममें उसे मत लगाओ।

कोई मनुष्य धनी है केवल इसीलिये उसके सामने सिर नीचा मत करो। उसके आडम्बर, शक्ति या प्रभावके वशीभूत मत हो। माताके लिये जब तुम किसीसे कुछ माँगो तो तुम्हें यह प्रतीत होना चाहिये कि माता ही तुम्हारे द्वारा अपनी वस्तुका किंचित् अंश मात्र माँग रही हैं और जिस व्यक्तिसे इस तरह माँगा जायगा, वह इसका क्या जवाब देता है, उसीसे उसकी परीक्षा होगी।

यदि धनके दोषसे तुम मुक्त हो; पर साथ ही संन्यासीकी तरह तुम उससे माँगते नहीं हो तो भागवत-कर्मके लिये धन जय करनेकी बड़ी क्षमता तुम्हें प्राप्त होगी। मनका समत्व, किसी स्पृहाका न होना और जो कुछ तुम्हारे पास है और जो कुछ तुम्हें मिलता है और तुम्हारी जितनी भी उपार्जन-शक्ति है, उसका

भागवती शक्तिके चरणोंमें तथा उन्हींके कार्यमें सर्वथा समर्पण। ये ही लक्षण हैं धनदोषसे मुक्त होनेके। धनके सम्बन्धमें या उसके व्यवहारमें किसी प्रकारकी मनकी चञ्चलता कोई स्पृहा, कोई कुण्ठा किसी-न-किसी दोष या बन्धनका ही निश्चित लक्षण है।

इस विषयमें उत्तम साधक वही है जो दरिद्रतामें रहना आवश्यक होनेपर वैसा रह सके और उसे किसी अभावकी कोई वेदना न हो या उसके अंदर भागवत-चैतन्यके अबाध पीड़नमें कोई बाधा न पड़े और वैसे ही यदि उसे भोगविलासकी सामग्रीके बीचमें रहना पड़े तो वह वैसे भी रह सके और कभी एक क्षणके लिये भी अपने धन-वैभव या भोगविलासके साधनोंकी इच्छा या आसक्तिमें न जा गिरे, असंयमका दास न हो अथवा धन रहनेपर जैसी आदतें पड़ जाती हैं, उनसे बेबस न हो जाय। भागवती इच्छा और भागवत आनन्द ही उसका सर्वस्व है। [संकलयिता—माधव]

अन्तर्मुख-वृत्ति

(लेखक—विद्यावाचस्पति श्रीगणेशदत्तजी शर्मा 'इन्द्र')

भगवान् श्रीकृष्णने कुरुक्षेत्रके समराङ्गणमें मोहग्रस्त हतबुद्धि पार्थ अर्जुनको उपदेश करते हुए कहा था—'पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार—ये आठ मेरी अपरा प्रकृति हैं और यह अखिल ब्रह्माण्ड जिस शक्तिपर अवस्थित है, वह मेरी परा प्रकृति है।' ये दोनों प्रकृतियाँ अन्योन्याश्रय होते हुए भी एक दूसरेसे भिन्न हैं—यही इनकी विशिष्टता है।

इन आठ अपरा प्रकृतियोंमेंसे पहली पाँच व्यक्त हैं और शेष तीन अव्यक्त। साधारणतः जिसे हम प्रकृतिरूपसे मानते हैं, वह अपरा है। शरीर अपरा प्रकृति है। जीव, जिसके कारण शरीरकी स्थिति है, वह परा प्रकृति है। अपरा परिवर्तनशील है। परिवर्तन ही इसका धर्म है, क्रिया है। इस समस्त परिवर्तन और हेर-फेरको नियन्त्रित करनेवाली शक्ति परा कहलाती है। आठों प्रकृतियाँ अर्जन करती और व्यय भी करती हैं। आती हैं और जाती भी। परिवर्तन और आवागमन इनका गुण है; परंतु परा प्रकृतिकी सहायताके बिना ये पङ्गु हैं—निष्क्रिय हैं। अपरा प्रकाश्य है और परा प्रकाशक है। अपरा प्रकृति जगत् है और परा प्रकृति ब्रह्म।

प्रकाश्य और प्रकाशक; जगत् और ब्रह्म—इन दोनों भावोंसे युक्त सृष्टिके कार्य और कारणोंकी उत्पत्ति हुई है। द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि वाद और मतोंकी बुनियाद इन्हींपर उत्खनित हैं। मनुष्य अपने धर्मग्रन्थोंद्वारा परा प्रकृतिको खोजने और जाँचनेका प्रयत्न करता है। किंतु पुस्तकीय ज्ञान उसे परा प्रकृतिके पथपर ले जाकर भटका देता है—भ्रममें डाल देता है। उस समय मनुष्य दिग्भ्रान्त बनकर 'किंकर्तव्यविमूढ'-जैसा हो जाता है। ऐसा इसलिये होता है कि पुस्तकद्वारा प्राप्त ज्ञान स्वयं उसका अर्जित ज्ञान नहीं है। उसे बुद्धिद्वारा ज्ञान प्राप्त करने और प्राप्त करके अनुभवमें लानेका प्रयत्न करना चाहिये।

ज्ञान और अनुभव—दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। विद्या प्राप्त करना ज्ञान है और उसे अनुभवमें उतारना विज्ञान है। श्रद्धाके बिना कभी सत्य ज्ञान नहीं होता। श्रुतिका यह वचन प्रत्येक ज्ञानार्थी, विद्याभ्यासीको गाँठ लगाकर पल्ले बाँध रखना चाहिये—

'श्रद्धया सत्यमाप्यते।'

बिना श्रद्धाके सत्य नहीं मिलता और बिना सत्य ज्ञानके मुक्ति नहीं मिलती। मुक्ति ही सच्चा विज्ञान है। श्रद्धा तदाकार वृत्तिका परिणाम है। निर्मल एवं शुद्ध बुद्धिको तदाकार वृत्ति सुलभ है। लड्डू मीठा होता है और उसके खानेसे प्रसन्नता होती है तथा शरीरको बलकी प्राप्ति होती है, परंतु केवल इतना ज्ञान मात्र होनेसे ही मनुष्यकी तृप्ति नहीं होती। लड्डू बनाकर खानेसे ही तुष्टि होती है। उसे बनाकर खाना अनुभव है, विज्ञान है। बनाकर खानेवालेको लड्डुओंके लिये इधर-उधर भटकना नहीं पड़ता। जब कभी उसे इच्छा होगी, बना लेगा। 'लड्डू बनाना ही

है'—ऐसा जबतक प्रबल संकल्प नहीं होता—लड्डूके साथ तदाकार वृत्ति नहीं मानी जा सकती, तबतक लड्डू बनानेके विज्ञानका जन्म नहीं होता। लड्डू बनाकर खानेवाला उसके स्वादकी, उसके आकारकी, उसके गुण-दोषकी उलझनमें नहीं पड़ता।

अनुभवरहित केवल पुस्तकीय ज्ञान व्यक्तिको बहिर्मुख बना देता है। उसे भ्रान्त बनाकर उलझन उत्पन्न कर देता है। जहाँ उलझन है—भ्रान्ति है, वहीं कुण्ठा है। जहाँ कुण्ठा है, वहाँ परमेश्वर नहीं, समदृष्टि नहीं, समानता नहीं।

सृष्टिके आरम्भमें इतना पुस्तक-साहित्य उपलब्ध नहीं था, जितना कि आज है। उस समय व्याकरण, न्याय, तर्क आदि शास्त्रोंका पता नहीं था। ये सब आत्मासे उत्पन्न हुए हैं। सब वस्तुओंका मूल अंदर है, बाहर नहीं। उदाहरणार्थ किसी यन्त्रको, जैसे मोटर, रेडियो आदिपर विचार करेंगे तो आप पायेंगे कि उनका आविष्कार मानव-मस्तिष्कसे ही हुआ है। मोटरके प्रथम आविष्कर्त्ताके पास उससे पूर्व कोई मोटर अथवा तत्सम यन्त्र नहीं था और न तद्विषयक कोई पुस्तक ही थी। रेडियोके आविष्कारकने अपनी अन्तर्बुद्धिसे ही रेडियो-विषयक खोज की, तब रेडियोका जन्म हुआ। जो वस्तुएँ अशक्य और असम्भव जान पड़ती थीं, वे उनके आविष्कर्ताओंको खेल-सा जान पड़ीं। प्रत्येक बातका बीज मनमें है और प्रस्फुटित तथा विकसित होकर वह बाहर आती है।

निसर्गने अपना कोषागार सबके लिये समानरूपसे खोल रक्खा है। वहाँ ऊँच-नीचका भेद-भाव तथा किसी प्रकारका कोई पक्षपात नहीं है। उस अगाध भण्डारसे रत्नराशि प्राप्त करनेके लिये हमारा आत्मा, मन और बुद्धि हमारे पास है। निमित्त प्राप्त होनेपर पदार्थकी उत्पत्ति सहज-सुलभ है। वैशाख और ज्येष्ठमें चलनेवाली आँधियोंमें जब घास आदिके सूक्ष्म बीज धूलके साथ उड़ते हैं, उस समय उस बवंडरमें 'घास आदिके बीज नहीं हैं' ऐसा नहीं कहा जा सकता। वर्षा ऋतुमें वर्षाजलका सिञ्चन निमित्त मिलते ही वे उग आते हैं। वे हरे होकर पृथ्वी-पृष्ठको हरा-भरा कर देते हैं। इससे सिद्ध होता है कि बिना निमित्तके उन बीजोंके रहते हुए भी कुछ नहीं हो सकता। अंग्रेजी भाषाकी एक कहावतका अभिप्राय है—

'अत्यन्त वृद्धा स्त्री दरिद्ररूपी निमित्तसे प्रताडित घर-घर भटकती है।' जो मनुष्य विद्वान् है, वह निर्धन नहीं रह सकता। वह अपना मार्ग किसी-न-किसी तरह ढूँढ ही लेता है। उसके पास लक्ष्मीके बीजको अङ्कुरित करनेके लिये विद्यारूपी जल निमित्त है। उन्नत देश विद्याके प्रतापसे ही अपनेको आगे बढ़ा पाये हैं।

आवश्यकताको नियमोंकी कोई जरूरत नहीं पड़ती। आवश्यकता नियमोंके बन्धनोंमें आबद्ध नहीं रहती। वह नियमोंको तोड़ डालती है और तोड़े हुए नियमोंसे अधिक श्रेष्ठ नियमोंका निर्माण करती है। भेदभावके नियम तोड़नेकी आवश्यकता हमें आज विवश कर रही है। हमारा ब्रह्मचर्य नष्ट हो गया है और उससे हमारी चिन्तन एवं मननशक्तिका ह्रास हो चुका है। हमलोग बाहरी पदार्थोंपर रीझते हैं; किंतु उसके अन्तरंगको ढूँढ निकालनेकी प्रवृत्ति नहीं होती। परंतु यह ध्यान रखना चाहिये कि बाहरसे आयी हुई वस्तु कदापि हमारी नहीं हो सकती। जो भीतरसे बाहर आवे, वही हमारी कही जा सकती है। वनवासी ऋषि-मुनियोंने बिना किन्हीं ग्रंथोंकी सहायताके अमित ज्ञानके स्रोत प्रवाहित कर हमें चिर ऋणी बनाया है। उनकी ज्ञान-गङ्गाकी गंगोत्तरी उनके मानस-तुषाराद्रिसे प्रकट होकर संसारके कल्मष-प्रक्षालनकी क्षमता रखती है।

मार्गशोधनमें संयम ही मनुष्यका सच्चा साथी बनता है। धारणा, ध्यान, समाधि—इन तीनोंके मिलनेसे संयमका जन्म होता है। चित्तकी एकाग्रताका नाम धारणा है, वहीं-का-वहीं उसे लगाना ध्यान कहलाता है और ध्यान लगी हुई वस्तुसे मनको तदाकार करना समाधि है। बिना समाधिके कोई भी ज्ञान नहीं होता। किसी कृषि कॉलेजसे स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण छात्र, कॉलेजसे निकलते ही कृषिविषयक बड़ी लम्बी-चौड़ी बातें कर सकता है, परंतु गेहूँ बोनेके लिये कौन-सी और चनेके लिये किस किस्मकी भूमि उपयुक्त है, यह बात तो बहुत समयसे लगी हुई समाधिमें अनुभव प्राप्त एक अपढ़ किसान तत्काल बता सकता है।

स्वतन्त्र वृत्तिसे कार्य न हो तो मनुष्यके मनुष्यत्वका प्रादुर्भाव नहीं होने पाता। ईश्वर हममें व्यापक है—यह ज्ञान होनेपर भी, यथार्थ ज्ञानके अभावमें वासनाएँ हमारे मनमें उछल-कूद मचाये रहती हैं और उसपर अज्ञानका मैला आवरण पड़ा होनेसे ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं हो पाता।

काम करते समय अथवा मित्रोंसे गपशप लड़ाते समय मनका पता नहीं लगता। जप, तप, तीर्थ, यज्ञ-यागादि कर लेना सहज है, किंतु मनोवृत्तियोंके साथ एकान्तमें जो युद्ध किया जाता है, उसमें विजय पाना अत्यन्त कठिन है। मनुष्य प्रत्येक दिन अधिक नहीं तो पाँच-दस मिनिट ही एकान्तमें बैठकर अपनी वृत्तिरूपी लहरोंका दमन करे, उन्हें अपनेसे दूर करनेका अभ्यास करे, तो उसे तुरंत अनुभव हो जायगा कि 'मन उसे हराता है या मन उससे हारता है।'

जिसने अपने मनपर अपना पूर्णाधिकार कर लिया, उसने संसाररूपी कुरुक्षेत्रके महायुद्धमें विजय प्राप्त की, ऐसा मानना चाहिये। शास्त्रोंने ईश्वरोपासनाका विधान इसीलिये किया है। परंतु मनुष्य, उपासना ईश्वर सांनिध्यके लिये नहीं, बल्कि दिखावामात्रके लिये करने लगा है। उपासनामें प्रेमार्थ अथवा प्रेम-दृष्टिसे हमलोग ईश्वरको नहीं देखते। कर्तव्य कर्तव्यके लिये है, फलके लिये नहीं। ईश्वर-प्रार्थनामें फलप्राप्ति हमारा लक्ष्य होता है—उसमें कर्तव्यका ध्यान भुला दिया जाता है। यही कारण है कि हमारी प्रार्थना, पूजा निष्फल रहती है और पठन-पाठन मिथ्या हो जाता है।

गोपियोंका भगवान् श्रीकृष्णके प्रति महान् प्रेम था। वे प्रेमके लिये श्रीकृष्णसे प्रेम करती थीं। वे सदैव यही चाहती थीं कि 'जन्म-जन्मान्तरमें भी श्रीकृष्णचन्द्रमें हमारा विशुद्ध प्रेम रहे।' वे अपने आराध्यसे यही माँगा भी करती थीं। विशुद्ध प्रेमका मधुर निर्झर सदैव उनके मानसमें बहा करता था। वहाँ वासना और कलुषताकी कल्पना भी नहीं थी। भीष्मसे युद्ध, गोपियोंसे प्रेम, अर्जुनको गीता-ज्ञान आदि बातें श्रीकृष्णकी विलक्षणता सूचित करती हैं। उनके जीवनकी सादगी अद्भुत थी। राज्योंको जीतकर उन्हें उनके सच्चे अधिकारियोंको सौंप दिया, अपना ज्ञान विश्व-कल्याणके लिये अर्जुनादिके माध्यमसे संसारको प्रदान किया। यह श्रीकृष्णरूपी आत्मा अर्जुनरूपी मनको प्रत्येक मनुष्यके अंदर गीताका पवित्र ज्ञान सुना रहा है। परंतु अर्जुन अर्थात् मन तैयार नहीं है। उसके हाथसे गाण्डीव स्खलित हो रहा है, शरीरसे पसीना बह रहा है और बारंबार मूर्च्छा आ रही है। वह कृष्ण अर्थात् आत्माकी बातें सुनना पसंद नहीं करता—उस ओर देखना तक नहीं चाहता। वह तो बाह्य—भौतिक वस्तुओंके सुखोंका लोभी हो रहा है। उसकी वृत्ति अन्तर्मुखी नहीं है। उसके ब्रह्मचर्यकी नींव खोखली पड़ गयी है, गृहस्थाश्रमकी दीवारें हिल रही हैं, वानप्रस्थकी पर्णशाला टूट गयी है और संन्यासाश्रमका चमकीला स्वर्णकलश झुक गया है। फिर भी ऐसी दशामें भी बाह्य, सांसारिक बहिर्वृत्तियोंसे हटकर अन्तर्मुखी वृत्तिके अभ्यास एवं ग्रहणद्वारा, मनुष्य अपना वर्तमान और भविष्य परमोज्ज्वल बना सकता है।

संतका स्वरूप

आकिंचन इंद्रीदमन रमन राम इकतार।
तुलसी ऐसे संतजन बिरले या संसार॥
अहंवाद 'मैं' 'तैं' नहीं, दुष्ट संग नहिं कोइ।
दुखतें दुख नहिं ऊपजै, सुखतें सुख नहिं होइ॥
सम कंचन काँचै गिनत सत्रु मित्र सम दोइ।
तुलसी या संसारमें, कहत संत जन सोइ॥
बिरले बिरले पाइये माया-त्यागी संत।
तुलसी कामी कुटिल कलि केकी केक अनंत॥
मैं तैं मेट्यो मोह तम उग्यो आतमा भानु।
संतराज सो जानिये तुलसी या सहिदानु॥

—तुलसीदासजी

सफलता

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥

'अस्वस्थ देह, अशान्त मानस, अहंकार-उन्मत्त मानव यदि सफल हैं, तो असफल कौन कहा जायगा !' वह आज पूर्णतः उत्तेजित है। आत्मघात करनेको उद्यत होनेवालेकी उत्तेजना अपनी चरम सीमापर होती ही है। ऐसा क्षुब्ध व्यक्ति किसीका भी संकोच नहीं करता। वह बलात् खींच लिया गया, जब गङ्गोत्तरीमें गङ्गाके प्रवाहमें अपना शरीर समर्पित करने जा रहा था। इस बातने उसे अधिक क्षुब्ध कर दिया है—'आप कहते हैं कि मेरे पास सम्पत्ति है, अधिकार है, सम्मान है। मैं इतना सफल जीवन प्राप्त करके यह अनर्थ क्यों कर रहा हूँ। यह बात आपके—एक साधुके मुखसे शोभा देती है ! मानव-जीवनके बहुमूल्य वर्षोंको विनष्ट करके, सतत श्रमसे स्वास्थ्यकी बलि देकर धातुकी चमकती राशि, कुछ रंगीन कागजके टुकड़ोंके पुलिन्दे अथवा मूल्यवान् कहे जानेवाले पत्थर पा लिये, मूर्खोंके समुदायने अपना अग्रणी मान लिया अथवा प्रशंसाके पुल बाँध दिये और इस प्रशंसा एवं अधिकारने अन्तरकी शान्तिको अपहरण कर लिया। इसपर अब आपके यह महाव्यंग्य कि मैं अत्यन्त सफल व्यक्ति हूँ !'

'किंतु अपघातका यह अनर्थ तुम्हें किस समस्याका समाधान देगा ?' साधुने शान्त स्वरमें कहा—'शेष प्रारब्धसे छुटकारा मिलना नहीं है। जीवनसे असमय भागनेका अपराध करके तुम अपनेको अधिकतम दण्डका ही भागी बनाओगे !'

'हे भगवान् !' वह दोनों हाथोंसे सिर पकड़कर बैठ गया और फूट-फूटकर रोने लगा।

'भगवान् करुणावरुणालय हैं। उनका असीम अनुग्रह है तुमपर !' साधुने स्वस्थ आश्वासन दिया—'अन्यथा सुयश, सम्पत्ति एवं शासनाधिकारके पीछे संसारके लोग पागल हैं। उन्हें पतातक नहीं चलता कि यह उन्माद उन्हें किस गर्तमें अवश ले जा रहा है। शासनाधिकारके साथ अशान्ति, सम्पत्तिके साथ चिन्ता एवं श्रम तथा अस्वास्थ्य, सुयशके साथ अहंकार, अयशका भय आदि अनेक दोष रहेंगे ही। मनुष्यकी सबसे बड़ी असफलता यही है कि वह इन्हें जीवनकी सफलता समझता है। जब यह बात सूझने लगे तो समझना चाहिये कि मायानाथने अपनी माया-यवनिका उठा लेनेका अनुग्रह किया है।'

'महाराज ! मैं अधिक आस्थावान् नहीं हूँ।' उसने सिर उठाया। 'तत्त्वज्ञान या आत्मसाक्षात्कार, भगवद्दर्शन, निर्विकल्प समाधि आदिमें मनुष्यकी सफलता है, मेरा ऐसा विश्वास नहीं है। जैसे सम्पत्ति, सुयश, शासनाधिकारकी महत्ता सुनते-सुनते संस्कार बन गया है कि इनकी प्राप्ति जीवनकी सफलता है, वैसे ही ग्रन्थ पढ़कर अथवा आप लोगोंसे सुनकर समाधि आदिमें महत्त्वबुद्धि हो जाती है। एक संस्कार चित्तमें डालो कि अमुक अवस्था परम सफलता है और तब उस कल्पनाको साकार करनेमें जुटो।'

'मुझे बहुत प्रसन्नता है कि तुम सचमुच समझदार हो।' साधु उसे गङ्गातटसे अपने आश्रममें ले आये। अग्निके समीप बैठनेके पश्चात् बोले—'देखो, सुखकी निर्बाध उपलब्धि ही प्राणियोंका स्वाभाविक लक्ष्य है। सच्चा सुखी आप्तकाम पुरुष ही होता है और आत्माराम ही आप्तकाम होता है।'

'आप्तकाम हुए बिना अशान्ति तो मिटती नहीं।' उसने स्वीकार किया—'कामनाके पीछे भागनेमें कितनी भी उसकी पूर्ति प्राप्त होती रहे विश्राम कहीं नहीं है। भोग उलटे रोगका प्रसाद देता है।'

'अब विचार करके देखो !' साधु गम्भीर बन गये—'मद और मत्सर पामर पुरुषोंमें होते हैं। पाप करना ही जिन्हें प्रिय है, उनकी चर्चा अनावश्यक है। वे पतनके पथपर लुढ़के जा रहे हैं। अब आप्तकाम होनेमें चित्तके चार विकार बाधक रह जाते हैं—मोह, लोभ, काम और क्रोध। मोह और लोभ विषयी पुरुषको अपनाते हैं। ये स्थायी विकार हैं। प्रत्येक अवस्थामें, प्रत्येक आयुमें

ये बने ही रहते हैं। ये मन्द गतिसे बढ़ते हैं; किंतु बद्धमूल होते हैं। इनको निर्मूल किये बिना कोई साधक नहीं बनता। लोभ और मोहका उन्मूलन जहाँ हो जाता है, वहाँसे परमार्थका पथ प्रारम्भ होता है। साधकमें वैराग्य न हो तो साधन कैसे चलेगा और वैराग्यका अर्थ ही है—'लोभ तथा मोहका सम्यक् त्याग।'

'भगवान्ने तुमपर अनुग्रह किया है। तुममें वैराग्य आया है। लोभ-मोहसे तुम ऊपर उठ सके हो।' कुछ क्षण रुककर साधु बोले—'अब काम और क्रोधके वेगको सहनेकी क्षमता उत्पन्न करो। जीवनकी सफलता यही है कि मनुष्य इनके वेगको सह लेनेमें सक्षम हो। विश्वास करो, जिस दिन तुम यह शक्ति प्राप्त कर लोगे आप्तकाम हो जाओगे!'

'काम और क्रोध तो निमित्तज हैं।' वह उस दिन साधुके समीपसे उठ आया और धर्मशालाके अपने कमरेमें आकर सोचने लगा—'कोई प्रलोभन सम्मुख आयेगा तो मनमें उसे प्राप्त करनेकी वासना उठेगी। कोई अपने अभीष्टमें व्याघात बनेगा तो उसपर क्रोध आयेगा। तब ऐसा क्यों नहीं किया जा सकता कि निमित्त प्राप्त ही नहीं हों।'

गङ्गोत्तरीसे वह लौटा; किंतु घर न आनेका तो निश्चय कर चुका था। तीर्थयात्रामें लगा रहा कुछ काल और यह यात्रा भी उसकी हिमालयके पर्वतीय तीर्थोंकी ही थी। अन्तमें एक एकान्त निर्झरके किनारे एक गुफाको अपना आश्रय बनाकर जम गया। पासके पर्वतीय ग्रामके लोग जैसे ही पहिली बार दर्शन करने आये, उसने बता दिया कि केवल शामको दो घंटे ही गुफासे निकलकर बाहर बैठेगा और कोई स्त्री अथवा कन्या उसकी गुफाके पास कभी आयी तो यहाँसे चला जायगा।

जप तथा गीता-भागवतका पाठ-स्वाध्याय। बड़ा शान्त तथा आनन्दमय जीवन उसे प्रतीत हुआ। अपने साथ थोड़ेसे वस्त्र, दो कम्बल, एक लोटा तथा गीता एवं भागवतकी पुस्तकें—इतनी ही सामग्री लाया था। ग्रामके लोग उसे आटा, आलू, नमक तथा दूध दे देते थे। शरीर-निर्वाहके लिये इतना सब पर्याप्त था।

'कहो नारायण! प्रसन्न हो?' अचानक एक दिन उसकी गुफापर वे गङ्गोत्तरीवाले साधु आ धमके। ये बाबाजी लोग विचित्र होते हैं। हाथ जोड़ो, प्रार्थना करो, धरनातक दे डालो किंतु ध्यान नहीं देंगे तो नहीं ही देंगे। किंतु यदि किसीकी ओर ढल पड़े; फिर उसका पिण्ड भी नहीं छोड़ेंगे। अब पता नहीं कैसे उसका पता लगाकर ढूँढ़ते हुए आये हैं। आये और सीधे गुफामें उसके आसनपर जाकर विराजमान हो गये।

'मेरा सौभाग्य!' वह हर्षविह्वल हो उठा। चरणोंपर मस्तक रखकर प्रणाम किया उसने।

'सौभाग्य अथवा दुर्भाग्यकी बात पीछे देखी जायगी। इस समय तो मैं तुम्हें यहाँसे निर्वासित करने आया हूँ। बैठो और स्थिर होकर सुनो!' साधुने उसके बैठ जानेपर कहा—'तुमने अपनेको भ्रममें डाल रक्खा है। कोई प्रलोभन सम्मुख न हो या स्वयंमें शक्ति न हो, यह अकामता अथवा काम-विजय नहीं है। सब लोग सम्मान करें, सब अनुकूल आचरण करें तो क्रोध किसीको क्यों आयेगा? साधकके लिये एकान्त आवश्यक है; किंतु इससे अपनेमें आप्तकाम होनेका भ्रम होता है। अवस्था आ गयी है कि तुम अब जन-सम्पर्कमें आकर आत्मपरीक्षण करो।'

उसके अत्यन्त आग्रह करनेपर भी बाबाजी रुके नहीं। वे उसी समय चले गये। कठिनाईसे उन्होंने थोड़ा दूध स्वीकार किया था। उनके चले जानेके पश्चात् उसने भी गुफा छोड़ दी।

वह हिमालयकी तपोभूमिसे मैदानके कोलाहलपूर्ण क्षेत्रमें आ गया; किंतु यह अवतरण केवल शारीरिक नहीं रहा। उसे लगा कि वह मानसिक दृष्टिसे भी हिमालयसे नीचे गिर गया है। यह समाज, यह अशान्त वातावरण—उसे लगता है कि साधारण व्यक्ति भी उसकी अपेक्षा मानसिक दृष्टिसे अधिक सशक्त हैं।

अब उसे कौन बतावे कि जैसे चमड़ेके कारखानेका कर्मचारी चमड़ेकी गन्धके प्रति सहिष्णु हो जाता है, वैसे ही उत्तेजक वातावरणमें रहनेवाले व्यक्तिका चित्त भी क्रमशः क्षीणसत्त्व हो जाता है। उसे उत्तेजना-प्राप्तिके लिये अधिक उपकरण अपेक्षित होते हैं।

यह बात भी वह कहाँ समझता है कि चित्तमें एक साथ अनेक आवेग नहीं रह सकते। जिनके चित्तमें मोह या लोभ जितने प्रबल हैं, उन्हें काम या क्रोध उतने कम अभिभूत कर पाते हैं। लोभी व्यापारी हँसकर अपमान सह

लेनेमें चतुर होता है। किंतु शुद्ध जलके सरोवरमें सामान्य वायु भी लहरें उठाया करती हैं।

समाजमें नारीने अपनेको अर्धनग्न रखना सभ्यता मान लिया है। अब कोई कहाँतक नेत्र बंद किये चल सकता है। लोग सादे सामान्य वेशका ही उपहास करते हैं। तनिक वेशसे धार्मिकता व्यञ्जित हो तो उसपर व्यंग कसना आजके युवकोंको अपना गौरव जान पड़ता है।

बड़ी व्यथा, बड़ी अशान्ति मिली है उसे इस वातावरण-में आकर। वह तो उन्मत्त ही हो जाता यदि उसे अचानक वे साधु न मिल जाते। वृन्दावन वह आया तो भी उसे शान्ति नहीं मिली थी। बार-बार चित्तमें विकृति आती है। बार-बार रोष आता है। कितना भ्रममें था वह अपने सम्बन्धमें।

'बच्चे!' साधुने बहुत स्नेहपूर्वक उसके मस्तकपर हाथ रक्खा—'व्याकुल मत बन। ऐसा भवन नहीं बनेगा, जो जीर्ण न हो, मैला न हो। ऐसा शरीर नहीं होगा, जो रोगी न हो। यदि हो भी जाय, जैसा कि कुछ दिव्य देह अमर पुरुषोंका है तो कोई महत्ता उसकी नहीं है।'

'शरीर स्वस्थ रहे या रोगी, मैं चिन्ता नहीं करता।' उसने अश्रुभरे नेत्र उठाये।

'मैं यही कह रहा हूँ कि शरीरकी चिन्तासे पागल मत रहा कर!' साधुने स्नेहपूर्वक कहा—'सूक्ष्मशरीर भी शरीर ही है बच्चे!'

'भगवन्!' यह ऐसे चौंका, जैसे पैरोंके नीचे सर्प आ गया हो। भला इस बातसे क्या तात्पर्य हो सकता है इन साधुका?

'काम और क्रोध स्थायी वृत्तियाँ नहीं हैं।' साधु समझाने लगे—'ये आवेग हैं, आँधीकी भाँति निमित्तके संयोगसे आते हैं। आनेसे पूर्व जिनका पता ही नहीं होता, उन्हें आनेसे ही तू कैसे रोकेगा? समष्टिमें निमित्त आवें ही नहीं, किसीके वशकी बात है?'

'तब?' केवल नेत्रोंके भाव उसके पूछ रहे थे। शब्द वह चाहता भी तो कण्ठसे नहीं निकलते।

'आँधी तो आयेगी। आनेका पता लगे तो भवनके द्वार बंद कर ले।' साधुने अपनी बातकी व्याख्या कर दी—'काम तथा क्रोधके वेग तो आयेंगे। आनेपर सावधान होकर इन्द्रियोंके द्वार बंद कर। इनका वेग क्रियासे, शब्दसे, शरीरकी भावभङ्गिमासे बाहर निकले—शरीर छोड़कर ये बाहर जायँ, इससे पहिले ही इन्हें चित्तमें दबा दे। इनका वेग भीतर ही सहन कर लेनेकी क्षमता हो जाय तो तू आप्तकाम हो गया। सुखी हो गया। सफल हो गया।'

श्रीबाँकेविहारीजीके मन्दिरमें एक कोनेपर दीवालसे टिके वे दोनों आधे खड़े प्राय थे। मन्दिरके पट खुल गये। गोस्वामीने चिक उठाना प्रारम्भ कर दिया है। दोनों शीघ्रतासे सम्मुख आ गये। साधुने वार्ताका उपसंहार किया थोड़े शब्दोंमें—'अपने प्रयत्नसे कोई कदाचित् ही सफल होता है। सफलता इनके श्रीचरणोंमें रहती है। इतना स्मरण रख तो तुझे अशान्ति स्पर्श नहीं करेगी।'

× × ×

'सफलता श्रीकृष्णके चरणोंमें रहती है।' उसके मस्तिष्कमें गूँजते रहते हैं ये शब्द। उस दिन आरतीके पश्चात् निकला तो वे साधु उसे मिले नहीं। दर्शन करनेमें लगनेपर पता नहीं चला कि वे कब बाहर चले गये; किंतु इनके शब्द उसे भूले नहीं हैं। 'सफलता साधनके परिपाकमें नहीं है। वह किसी क्रियामें, पदार्थमें अथवा चित्तके अवस्थाविशेषमें भी नहीं रहती। वह तो श्यामके श्रीचरणोंमें रहती है।'

'कन्हाई! यह क्या ऊधम है?' अब भी उसके चित्तमें विकार तो आता है। किंतु अब विकारका वेग उठते ही एक बात और आती है। वह अपने भीतर ही अपने अन्तर्यामी इस गोपकुमारपर बिगड़ता है। एक झिड़की और सब जैसे शान्त हो गया। अब बाह्य दृश्य अपना सिर धुनें। आँधियोंके उद्दाम वेगके प्रवेशके लिये जैसे वहाँ क्षुद्र छिद्र भी नहीं रह गया। बात बहुत सीधी है। मन्मथ भुवनविजयी भले हो; किंतु जहाँ उसकी आहट-पर उसका बाप ही डाँट खा जाय, बेचारा बेटा वहाँ आनेका साहस करे भी तो कैसे।

'कृष्ण! अब तू मुझे भी चिढ़ानेका साहस करता है?' क्रोध अधिक धृष्ट है पुष्पधन्वाकी अपेक्षा; किंतु उसके पद भी पलायन करते दीखते हैं जब प्रलयङ्करके भी परमाराध्य-पर कोई कड़ी आँखें उठाता है। वह तो तबतक टिका रहता है, जबतक कि उसे यह स्मरण न आवे कि यह बाह्य निमित्त उसका वह चिर चञ्चल ही उपस्थित करता है।

किंतु वह अब भी दुखी रहता है—'मैं इस सुकुमारको क्यों बार-बार डाट देता हूँ। कितना संकोची है, यह कभी तनिक विनोद कर ही लेता है तो बिगड़ता क्या है।'

'क्यों रे, तू इसे भी दुःख कहता है ?' सदाकी भाँति वे साधु इस बार भी उसे अकस्मात् ही मिले थे। उन्होंने हँसते हुए कहा—'श्रीव्रजराजकुमारसे चाहे कामका सम्बन्ध हो या क्रोधका, वह तो विकार है ही नहीं। उससे तो घृणा करके भी मानव-असुर मुक्त हुए हैं। जहाँ क्षोभमें भी सुखस्वरूपकी स्मृति है, वहाँ दुःख कहाँ रहता है। श्रीकृष्णकी स्मृति—ठीक तब जब विस्मृतिकी सम्भावना ही सबसे अधिक है। तो वेग-सहिष्णुताका यह आधार पाकर ही तो सम्पूर्ण रूपसे सफल है।'

व्यर्थकी चिन्ताएँ छोड़िये और प्रसन्न रहिये

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

आजकी परिधिमें रहना सीखें

हम स्वास्थ्य और सुखके लिये आजकी परिधिमें रहना सीखें। आजकी परिधि अर्थात् आजकी जिंदगी सबसे अच्छी तरह जिएँ, उसमें पूरी कर्तव्यनिष्ठासे श्रम करें और फल ईश्वरपर छोड़ दें।

हजरत नूहने बड़ी लम्बी आयुका सुख भोगा था। कहते हैं कि उनकी दीर्घ आयु और सुखका रहस्य यह था कि वे प्रत्येक दिनको अतीत अर्थात् बीते हुए युग तथा भावी अर्थात् कलको आनेवाले युगसे अलग करके जीते थे।

प्रत्येक दिन फूलकी पंखुरीकी तरह अलग-अलग है। उसकी सुरभि, स्वाद, गन्ध और सौन्दर्य पृथक् है। सम्पूर्ण पुष्पकी ये पंखुरियाँ परस्पर मिलकर महकते फूलका आनन्द देती हैं।

उसी प्रकार जीवनका प्रत्येक दिन अलग-अलग जिया जाय। उसे विगत दिनोंकी कालिमासे अलग रक्खा जाय।

ये मूल्यवान् शब्द !

यही बात सर विलियम ओसलरने कही थी। वे दिनका प्रारम्भ जिस प्रार्थनासे करते थे, वह मूल्यवान् है—

'हे प्रभो ! हमें आजका भोजन जुटा दे। आजके दिनको सुख और आनन्दपूर्वक व्यतीत करनेकी शक्ति दे।'

इन शब्दोंका अर्थ सोचिये।

उन्होंने केवल 'आज' को अच्छी तरह व्यतीत करनेके लिये प्रभुकी कृपा और वरदान चाहा है। कलकी रोटीके लिये कहीं चिन्ता प्रकट नहीं की है। प्रत्येक 'आज' मिल-मिलकर आनन्दमय जीवन बनाता है। आजके दिनको पूरे जोश, पूरे उत्साह, आनन्द और सुखपूर्वक जी लेना कितना सरल है।

इस संसारमें अनगिनत जीव हैं। जलचर और नभचर हैं; कीट-पतंग हैं; फूल, पत्तियाँ और वृक्ष हैं। ये जीव ऐसे विकट और दुर्वह स्थानोंमें निवास करते हैं, जहाँ भोजन और जीवनके साधनोंका पहुँचना सहज नहीं है, किंतु फिर भी ईश्वरकी असीम कृपा देखिये, वे प्रतिदिन सभी जीवोंके भोजन और जीवननिर्वाहके साधन जुटाते हैं। सबको प्रतिदिन भोजन और विश्राम मिलता है। ईश्वरके अक्षय भण्डारमें कभी भी कमी नहीं पड़नेवाली है।

सब जीवोंकी तरह कहीं-न-कहींसे आपके भोजनका भी प्रबन्ध होगा ही। फिर व्यर्थ ही आप कलकी चिन्तामें घुल-घुलकर आधे क्यों हों ? 'कल' अपनी चिन्ता स्वयं कर लेगा।

आप कहते हैं, 'यह खूब कहा कि कलकी चिन्ता न करें ? क्योंकर हमारे सब उत्तरदायित्व पूरे हो जायँगे ?'

'आप हमारा मतलब पूरी तरह नहीं समझे। हमारा तात्पर्य यह है कि आप 'कल'की समस्याओंको हल करनेकी योजनाएँ सोचें, कठिनाइयोंको हल करनेका भरसक प्रयत्न करें, मित्रोंका भरपूर सहयोग लें, अपने परिवारकी भावी सुरक्षाका प्रयत्न करें, रुपया अधिक कमायें और बचाकर रक्खें, वृद्धावस्थाके लिये जोड़कर रक्खें, पर इतना सब कुछ कर लेनेके बाद सबसे बड़ी एक बात आप और करें।'

'वह क्या है ?'

'आप ऊपरकी बातोंके लिये अपने गुप्त मनमें चिन्ता कभी भी न रक्खें।'

योजनाएँ बनाना दूरदर्शिता है। कठिनाइयोंको दूर

करनेके लिये नयी-नयी युक्तियाँ सोचना बुद्धिमानी है, पर उनके लिये व्यर्थ ही चिन्तित होते रहना, रातको भी चिन्तामें डूबे रहना, गुमसुम रोनी सूरत बनाये रहना विषैली आदत है।

आपने हमारे देवताओं तथा सभी देवियोंके मुखपर मधुर मुस्कान देखी है। आपको कोई भी चिन्तित चेहरा कहीं नजर नहीं आयेगा।

ये मुस्कराते चेहरे आपसे कहते हैं कि 'दुनियावालो! 'कल'की चिन्ता व्यर्थ ही मत करते रहो। तुम कलकी क्यों चिन्ता करते हो? हमें स्वयं तुम्हारी चिन्ता है। तुम तो जिंदगीको पूरे उत्साहसे विताओ।

एक सैनिककी सलाह

एक बार एक सैनिकसे उनके जीवनपर बातें होने लगीं। हमने कहा, 'फौजका जीवन खतरोंसे भरा है। मौत हमेशा छायाकी तरह पीछे पड़ी रहती है। किसी भी क्षण मुसीबत आ सकती है। हमेशा जानका खतरा है। आप कैसे जीते हैं?'

वह खिलखिलाया और निश्चिन्त मुसकान बिखेरता हुआ बोला— 'मौत'''कठिनाइयाँ'''मुसीबत, मुश्किलें दुनियामें बहुत हैं। असंख्य हैं। मृत्यु तो सिर्फ एक बार ही आनेवाली है। नौकरी करते समय हम एक बार ही इन सब समस्याओंपर खूब सोच-विचार कर लेते हैं। फिर हम उनकी ओर ध्यान न देकर प्रत्यक्ष आजकी समस्याओंको हल करनेमें ही अपनी शक्ति लगाते हैं। यदि हम सदा ही इन दैनिक चिन्ताओंको मनमें दबाये रक्खें, तो वे चिन्ताएँ निश्चय ही हमें गोली लगकर मरनेसे पूर्व ही समाप्त कर देंगी। हमने जीवनको जीनेका यही नियम बनाया है कि कलकी चिन्ता न करें; आजकी परिधिमें पूरी तरह खिलकर जिएँ।'

इस सलाहके शब्दोंपर ध्यान दें। यदि आप आजका दिन हँसी-खुशीसे जी सकते हैं, तो ऐसे ही सुखद दिनोंकी मनोहर कड़ी जीवनको मधुरतासे भर सकती है। यदि एक भी दिन दुःखसे भरा है, तो वह भविष्यको कष्टमय बना सकता है।

दिनके कमरोंमें बंद रहिये

वर्षों पूर्वकी बात है। अमेरिकामें सर विलियम ओसलरने येल विश्वविद्यालयके छात्रोंको भाषण देते समय चिन्ता दूर करनेका एक अनुभवपूर्ण उपाय इन शब्दोंमें बताया था—

'मेरी प्रसन्नता और उत्तम स्वास्थ्यका रहस्य यह है कि मैं दिनके कमरेमें बंद रहा हूँ।'

सबने उत्सुकतासे पूछा, 'दिनके कमरेमें बंद रहनेसे आपका क्या मतलब है?'

उन्होंने अपना अभिप्राय स्पष्ट करते हुए उत्तर दिया—

'दिनके कमरेमें बंद रहनेका मतलब स्पष्ट है। प्रत्येक दिनको सुबहसे सायंकाल तक अच्छे-से-अच्छे तरीकेसे व्यतीत करनेका प्रयत्न करना; उसमें उचित श्रम, मनोरञ्जन और पर्याप्त विश्रामका ध्यान रखना और अधिकाधिक आनन्द मनाना—यही एक दिनका कमरा है। मैं अपने-आपको प्रतिदिन इसीमें बंद रखता हूँ। एक-एक दिन अच्छा व्यतीत होते-होते मेरे जीवनके बहुत-से वर्ष बड़े ही सुख-शान्तिमय ढंगसे गुजरे हैं।'

'दिनका कमरा'—इसे कुछ और स्पष्ट कीजिये।

उन्होंने बातको स्पष्ट करते हुए आगे कहा—"मैं चाहता हूँ आप भी दिनकी परिधिमें बंद रहना सीखें। अपने मस्तिष्कके शेष कमरोंको बंद रक्खें, जिनमें आपकी जिंदगीकी बहुत-सी पुरानी कटु अनुभूतियाँ, दुःखद कटु बातें और नाना प्रकारकी चुभनेवाली स्मृतियाँ दबी पड़ी हुई हैं। उनमें आपकी नाना प्रकारकी बेवकूफियाँ, पश्चात्ताप पैदा करनेवाली अशिष्टताएँ और महामूर्खताएँ भरी पड़ी हैं। आप इन सबसे कभी छुटकारा नहीं पा सकते। हमारा अव्यक्त मन इन कटु अनुभूतियोंको कभी नहीं भूलता। वे सदैव गुप्त मनमें ठहरकर हमारे दैनिक जीवन तथा व्यवहारको प्रभावित किया करती हैं। आप इन अनुभूतियोंको किवाड़ोंमें बंद कर दीजिये। मन-मन्दिरके भव्य दृश्योंको ही खोलिये।

"थोड़ी देरके लिये उनकी दुःखभरी संचित पीड़ा, वेदना और हाहाकारकी काली परछाहीं अपने मुस्कराते हुए वर्तमान जीवनपर मत आने दीजिये। मनके किसी कमरेमें इन पुराने मुर्दोंको दफना दीजिये।

"बीते हुए जीवनवाले कमरेकी ही भाँति, वह कमरा भी फिलहाल बंद रखिये जिसमें भविष्यके लिये मिथ्या भय, शंकाएँ और निराशापूर्ण कल्पनाएँ एकत्रित हैं। इस अजन्मे भविष्यको भी मनकी कोठरीमें मजबूतीसे बंद कर दीजिये।

"इस प्रकार प्रसन्न रहनेके लिये मरे हुए 'अतीत' और अजन्मे 'कल'को अपने मुर्दे दफनाने दीजिये।

''वर्तमान ही हमारा है। हमें तो पहले आजकी परवाह करनी है। यह मदमाता 'आज'! यह उल्लासपूर्ण 'आज' ही हमारी अमूल्य निधि है। यह आपके हाथमें है। यह आपका साथी है। इस 'आज' की ही प्रतिष्ठा कीजिये। उसके साथ खूब खेलिये, कूदिये, मस्त रहिये और इसे अधिकाधिक उल्लासपूर्ण बनाइये।''

यह 'आज' एक जीवित चीज है। इस 'आज' में वह शक्ति है जो दुःखद कलको भुलाकर भविष्यके भयोंको नष्ट कर सकती है—इसीलिये मनीषियोंने कहा है—

'प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय' (ऋग्वेद १० । १८ । ३)

अर्थात् हम नाचते और हँसते हुए जिंदगीमें निरन्तर आगे बढ़ें। हमारा मुख म्लान न हो; हमारे पाँव शिथिल न रहें; हमारा उत्साह कभी भंग न हो!

हर सुबह एक नयी जिंदगी लेकर आता है!

समझदार जिंदगीसे कभी निराश नहीं होते। वे सदा नया प्रयत्न करते हैं। उनके लिये हर सुबह एक नयी जिंदगी लेकर आता है।

'आज मेरा सर्वोत्तम दिन है और मैं उससे सर्वाधिक आनन्द लूँगा।' इस वाक्यको आप उस शीशेपर चिपका दीजिये, जिसमें प्रातः उठकर आप अपना मुख देखते हैं। इस वाक्यके दर्शनसे दिनभर आनन्दपूर्वक व्यतीत करनेके संकेत मिलेंगे। यह बीजरूपमें आपके गुप्त मनमें अंकित हो जायगा और आपको दिनको अच्छे रूपमें व्यतीत करनेके शुभ संकेत मिलेंगे।

इस शुभ संकेतका बड़ा लाभ यह होगा कि आप बीते हुए 'कल' और भविष्यमें आनेवाले 'कल' पर व्यर्थ ही चिन्ता करना छोड़ देंगे। अपने समस्त बुद्धि-कौशलसे आजका काम पूर्ण करेंगे। उसे सबसे बढ़िया तरीकेसे व्यतीत करनेके उपाय करेंगे।

यदि हम आजका कार्य उत्तम योजना बनाकर अच्छी-से-अच्छी तरह पूर्ण करें, तो निश्चय ही हमारा जीवन सुखद हो सकता है। एक-एक दिन अच्छा बीतकर हम अपना सम्पूर्ण भावी जीवन आनन्दपूर्ण तत्त्वोंसे भर सकते हैं।

भविष्यकी चिन्ताएँ आपके मौजूदा जीवनको खा डालती हैं। नया सोचने और उत्पादक कार्य करनेकी आपकी सारी शक्ति जाती रहती है। स्वास्थ्य जाता रहता है। प्रत्येक चिन्ता आपके खूनको कम करती है।

एक भी चिन्ता मनमें निराशा पैदा कर सकती है। यह हमारे आत्मविश्वासको बड़ी हानि पहुँचाती है।

दूसरी ओर युद्ध, बीमारी, दिवाला, व्यापारिक मन्दी और मृत्युके अन्धकारपूर्ण रुदनमें उत्साहपूर्ण प्रयत्न, ईश्वरको अपने पक्षमें मानकर उन्नतिके लिये पूरी-पूरी कोशिशें आपके आत्म-विश्वासको बढ़ानेवाला है।

'मैं यह कार्य कर सकता हूँ। मैं अपने प्रयत्नोंमें पूरी तरह सफल होकर रहूँगा। ईश्वरकी समस्त दिव्य शक्तियाँ मेरे साथ हैं।'—यह शुभ विचार आपकी कार्यशक्तिको, जीवनके उत्साह और आत्मबलको बढ़ानेवाला है। ये शुभ संकेत (Auto-Suggestions) जीवनको आनन्दमय बनानेके ठोस उपाय हैं।

बस, आजका बोझ किसी प्रकार उठा लीजिये

राबर्ट लुई स्टीवनसन एक कुशल अंग्रेजी निबन्धकार हो गये हैं। वे आजन्म बीमार रहे थे। मौतकी काली छाया सदा उनके सिरपर झूलती रही, पर उन्होंने कभी भी उसकी चिन्ता नहीं की थी, वे अपने रोगी जीवनसे ही आनन्द प्राप्त करते रहे थे। जिंदगीका रस उन्होंने अन्ततक खूब चखा था।

'आप क्या बीमारीसे नहीं डरते? मौतकी चिन्ता आपको नहीं सताती?'

उन्होंने प्रसन्नता बिखेरते हुए पूरे आत्मविश्वासके साथ उत्तर दिया—

'अजी साहब, बीमारी अपने ढंगसे चलती है। उसे चलने दीजिये। मैं जिंदगीके बचे हुए क्षणोंका आनन्द लेने, चिन्ताकी बजाय उसका सदुपयोग करनेमें विश्वास करता हूँ।'

'फिर आपके जीवनका क्या निचोड़ है?'

'मैं कष्ट और बीमारीमें भी आनन्दित रहा हूँ। चाहे किसीका बोझ (जीवनका उत्तरदायित्व) कितना ही भारी क्यों न हो, हर एक व्यक्ति अपना बोझ सायंकालतक तो ढो ही सकता है। एक दिन हर व्यक्ति अपना कठिन कार्य पूर्ण कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति मधुरतासे, सहिष्णुता-से, प्रेमसे, पवित्रतासे शामतकका जीवन अच्छी तरह निश्चिन्त व्यतीत कर सकता है। बस, एक-एक दिन यों ही निश्चिन्त बीतनेसे पूरा जीवन आनन्दित हो जाता है। निश्चिन्त रहनेकी भी एक आदत है। यह आदत डाल लेनेसे दीर्घ-जीवन मिलता है।'

एक-एक दिनको मधुरतासे गुजारनेसे समूचा जीवन बदल जाता है।

डेल कारनेगीके निम्न शब्द अनुभवपूर्ण हैं और सदा गाँठमें बाँध रखने योग्य हैं—

'मनुष्य भी कैसा मूर्ख जीव है! वह जीवनके न जाने कितने सुखोंको भविष्यके लिये आगे ढकेलता जाता है। क्षितिजके उस पार सुदूर प्रदेशमें रहनेवाले किसी गुलाबके फूलसे परिपूर्ण उद्यानके सपने देखा करता है, जब कि उसी खिड़कीके नीचे समीप ही बाहर खिले हुए गुलाब अपनी सुवास फैलाते रहते हैं।'

कलकी चिन्ताको त्यागिये और आजका आनन्द लेनेके लिये तैयारी कीजिये। जो आनन्द आज प्राप्त किया जा सकता है, पहले उसपर ध्यान दीजिये।

जो कलकी चिन्ताओंके सहारे रहता है, वह शीघ्र ही भूखा मर जायगा। चिन्ता उसकी तमाम भूखको खतम कर देगी और नैराश्यका मानसिक रोग (मैलनकोलिया) उसे हमेशाके लिये पंगु-सा कर देगा। आजकी तनावपूर्ण जिंदगी मानसिक रोग उत्पन्न करती है। यदि कोई समस्या या कठिनाई है तो ठंडे मनसे उसे दूर करने, उसे सुलझानेका तरीका सोचिये, मित्रोंसे सहायता लीजिये, पर कृपाकर व्यर्थकी चिन्ताका बोझ अपने मनपर मत रखिये। सदा चिन्ता करते रहना एक मूर्खता है।

चिन्ताओंका जो जमघट आपके मनमें गुच्छा-सा बन गया है, उसका तार-तार पृथक् कीजिये। एक-एक चिन्ताको अलग-अलग दूर करते चलिये। बस, एक दिन वे सब हल हो जायँगी।

अपने सभी काम नियत समयपर कीजिये!

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

विश्वमें सबसे मूल्यवान् यदि कोई वस्तु है तो वह है—'समय'। अन्य सभी वस्तुएँ खो करके भी हम पुनः प्राप्त कर सकते हैं; पर गया हुआ समय वापस नहीं आता। मनुष्य आदि प्राणियोंकी आयु बहुत ही सीमित है और उसके समाप्त होते देर नहीं लगती। संकट या दुःखका समय बहुत लंबा लगता है और भोग, विलास या सुखका समय न मालूम किस तेजीसे चला जाता है कि हमें उसका भान भी नहीं होता। पर वास्तवमें समयकी न मन्द गति है, न तेज गति। हमें अपनी मनोवृत्तिके अनुसार उसका अनुभव होता है। अन्यथा हम देखते हैं कि दिन और रातके २४ टेके ६० मिनिट भी सुखी और दुखी व्यक्तिके लिये कम या अधिक परिमाणवाले नहीं होते। दोनोंके लिये एक ही समय लागू है, सुखी व्यक्तिका दिन-रात २३ घंटेका नहीं होता और न दुखीका २५ घंटेका होता है। इसलिये हमें जो सीमित आयु मिलती है, उसका अधिक-से-अधिक सदुपयोग करके जीवनको सफल बनाना हमारा कर्तव्य होना चाहिये। पर खेद है हमें समयके इस मूल्य एवं महत्त्वका कुछ भी ध्यान नहीं है। अतः बहुत-सा समय हम व्यर्थ बर्बाद कर देते हैं। जब महापुरुष हमें चेताते हैं या मृत्यु आ घेरती है, तब हमें बड़ा पछतावा होता है। पर 'फिर पछताये क्या बने जब चिड़िया चुग गयी खेत।' तब तो हमारे लिये यही उचित है कि 'बीती ताहि बिसार दे, आगेकी सुधि लेय।'

समयकी बर्बादीका सबसे प्रधान कारण तो यही है कि हम उसके मूल्य या महत्त्वका ठीकसे अनुभव नहीं कर पाते। अन्यथा जब मृत्यु सिरहाने खड़ी है और न मालूम आयु कब समाप्त हो जाय, यह जानते हुए भी हम असावधान कैसे रह सकते हैं? दूसरा कारण है हमारे जीवनकी अव्यवस्था। इसके कारण भी हमारा बहुत-सा समय व्यर्थ चला जाता है और साथ ही दूसरोंके समयकी भी बहुत बर्बादी होती है। उदाहरणार्थ हमारे भोजनका कोई नियत समय न हो तो हमें स्वयं परेशानी होती है, यदि रसोई बननेसे पहले हम भोजन करना चाहें तो नहीं कर पाते और भोजन बननेके बाद यदि समयपर नहीं खाते तो वह ठंडा और स्वादरहित हो जाता है। रसोई बनानेवाले तथा घरके अन्य लोग भी प्रतीक्षा करते रहते हैं। इस तरह एकके पीछे सभी घरके लोगोंका कुछ-न-कुछ समय व्यर्थ चला जाता है। रसोई बनानेवाला भोजन करनेवालोंके समयकी पाबन्दी न देखकर ढिलाईसे काम करता है। वह इधर-उधरकी बातों एवं अन्यान्य प्रवृत्तियोंमें लग जाता है

उसे समयपर और जल्दी काम करनेकी चिन्ता नहीं रहती। यदि भोजन करनेवाले सभी समयपर आकर भोजन कर लें तो उसे समयपर भोजन तैयार करनेकी चिन्ता रहेगी और थोड़े समयमें सब काम निपट जानेसे उसे अन्य कामोंके लिये भी समय मिल जायगा।

इसी तरह हमारे घरपर मिलनेका यदि कोई नियत समय नहीं तो बेचारे मिलने आनेवालोंको बड़ी परेशानी उठानी पड़ती है। वे बहुत देरतक प्रतीक्षा करके अपने कामका समय खोते हैं और निराश होकर लौट जाते हैं। बहुतसे विशिष्ट आदमियोंका जीवन मैंने इतना व्यस्त देखा है कि उनके पास एक आता है एक जाता है। या कई व्यक्ति बिना मतलबके ही घंटे दो घंटे गप्पें मारने लगते हैं। इससे वे न तो समयपर खा सकते हैं, न समयपर सो ही सकते हैं और न कोई अन्य काम समयपर कर सकते हैं। यदि वे मिलने आनेवालोंके लिये एक समय निश्चित कर दें तो जो भी मिलना चाहेंगे, वे सभी उसी समयपर आ जायँगे और नियत समयके बाद आप वहाँसे उठ जानेवाले हैं, यह जानकर वे जरूरी और कामकी बातें थोड़े शब्दोंमें कह देंगे। इससे आपके समयमें कोई बाधा नहीं आयेगी। प्रत्येक कामके लिये एक समय निश्चित कर लेनेपर सभी काम व्यवस्थित रूपमें समयपर पूरे हो सकेंगे। बैंकोंमें आप देखते हैं कि रुपयोंके लेन-देनका समय दो घंटेका होता है। अतः सभी लेन-देन करनेवाले अपने अन्य कामोंको आगे-पीछे करके भी उस समय वहाँ पहुँच जाते हैं, इससे उनका काम भी हो जाता है और बैंकवालेंको भी अपना हिसाब जमा-खर्च कर रोकड़ और खाता तैयार करनेका समय मिल जाता है। इधर आप समयकी पाबंदी न रखकर काम करनेवाले व्यापारीकी दूकान देखिये, सुबहसे आधी राततक काम करनेपर भी वह अपना काम पूरा नहीं कर पाता। राष्ट्रपिता महात्मा गांधीजी कितने कामोंमें व्यस्त रहते थे, पर सब काम नियत समयपर करनेके कारण उन्हें सभीके लिये समय मिल जाता था।

इस तरहके एक नहीं, अनेक उदाहरण हैं; जिनसे हमें यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि हमें अपने प्रत्येक कार्यका समय-क्रम बना लेना चाहिये। जहाँतक सम्भव हो, सभी काम इसी समय-क्रमके नियत समयपर करनेका अभ्यास डालना चाहिये। इससे हम जो कुछ करना चाहते हैं, उसके लिये समय निकाल पायेंगे। अपने और दूसरोंके समयकी बर्बादी रोककर उसे अच्छे कामोंके लिये बचा सकेंगे। प्रकृति भी हमको नियत समयपर काम करनेका संदेश देती है। सूर्य-चन्द्रका उदय, ऋतुओंका परिवर्तन सभी नियत समयपर अपने-आप हो रहे हैं।

पाश्चात्त्य लोगों और हमलोगोंके जीवनकी तुलना करें तो यह स्पष्ट विदित हो जायगा कि हमारी अपेक्षा वे समयका मूल्य अधिक जानते हैं। इसलिये वे प्रायः सभी काम नियत समयपर करते हैं।

हमसे वे कम काम करते हों, यह भी बात नहीं। अन्तर केवल यही है कि हम समयके उपयोगकी कला नहीं जानते, वे जानते हैं। हममेंसे बहुतसे व्यक्ति यह शिकायत करते हैं कि क्या बतायें अमुक काम करना था, पर समय नहीं मिलता, पर ध्यानसे देखा जाय तो उनमें मनोबलकी कमी है या समयके उपयोगकी कला वे नहीं जानते। हम प्रत्येक क्षण कार्यरत रहें। नित्य समयपर सभी काम करनेका अभ्यास डालें। बचे हुए समयको व्यर्थ न खोयें, पर उसे परोपकार, सेवा या आत्मोत्थानमें लगायें। साधनाके लिये भी नियत समय रखिये। सभी कामोंको समयपर करते रहनेसे आप साधन, भजन, सत्संगके लिये भी समय निकाल सकेंगे।

भगवान् महावीरने तो अपने शिष्य गणधर गौतमको सम्बोधित करते हुए बड़ी ही मार्मिक बात कही है कि समयमात्रका भी प्रमाद न करो अर्थात् समयको व्यर्थ न खोओ, न पापाचरणमें ही बिताओ। अपितु प्रतिपलका पूर्ण जागरूकता—विवेकके साथ सदुपयोग करो। हम अपना जीवन दूसरोंकी सेवामें लगा दें, न अपना और न दूसरोंका समय व्यर्थ खोवें, समयकी महानताको पहचानकर प्रतिपल समयको जीवनके उपयोगमें लायें।

मधुर

श्रीराधारानीको अपने प्राणवल्लभ श्रीश्यामसुन्दरसे प्रातःकाल सूर्योदयके कुछ ही पश्चात् प्रकृति-सुसज्जित काननकी कुञ्जकुटीरमें मिलनेका संकेत मिला था। तदनुसार वे वहाँ जानेवाली थीं और श्रीश्यामसुन्दर तो ठीक समयपर वहाँ पहुँच ही गये थे। पर राधारानी प्रातःकाल स्नान करके नित्यकी भाँति ज्यों ही प्रियतम श्यामसुन्दरकी मानस-पूजा करने लगीं कि उनका चित्त श्यामसुन्दरके सौन्दर्य-माधुर्य-रसमें लीन हो गया। वे बाह्यज्ञानशून्य हो गयीं और चौबीस घंटे उसी अवस्थामें बीत गये। वे आभ्यन्तरिक प्रेमराज्यमें श्रीश्यामसुन्दरके सौन्दर्य-माधुर्यका रसास्वादन करती रहीं। अतः संकेतके अनुसार नियत समयपर कुञ्जकुटीरपर नहीं पहुँच सकीं। दूसरे दिन बाह्यज्ञान होनेपर भी उन्हें यही स्मरण रहा कि आज ही वह संकेत-दिवस है और यही समय है। अतएव वे अपनी अन्तरङ्ग सखियोंके साथ प्रसन्नतासे कुञ्जकुटीर पधारीं। वहाँ जानेके बाद सखियोंके बतलानेपर उन्हें पूर्ण ज्ञान हुआ। तब उनकी सखियोंसे जो बातचीत हुई और तदनन्तर रससागरमें कैसी-कैसी लहरें आयीं, इसीका यहाँ अतिसंक्षिप्त वर्णन दिया जा रहा है।

मलयज पवन, उल्लसित पुलकित
लता-गुल्म-तरु क्षुद्र विशाल।
कानन कलित सुशोभित, पिक-शुक-
कूजित, मुकुलित मधुर रसाल॥
निर्मल जलपूरित सर-सरिता
करती शीतलता संचार।
कुञ्जकुटीर कुसुम नव-पल्लव,
करते अलि-कुल मधुर गुँजार॥
आयी अतिशय प्रमुदित राधा
अन्तरङ्ग सखियाँ ले साथ।
हँस-हँस थी कर रही मधुर
आलाप हिलाती कोमल हाथ॥
बता रही थी कैसे वह कल
आ न सकी थी कुञ्जकुटीर।
कैसे बेसुध थी, कैसे था
रहा अचेतन स्थूल शरीर॥
प्रियतम-ध्यान-जनित-सुखसागर-
में वह कैसे रही निमग्न।
रहा न था कुछ भी, थी वह बस,
केवल प्रियतमसे संलग्न॥
बाह्यज्ञान-विरहित, बरबस, वह
याद न रख पायी संकेत।
इसीलिये वह बाहर देख
न पायी प्रिय आनन्दनिकेत॥

मलयका सुगन्धित पवन बह रहा था; छोटे-बड़े लता, गुल्म, वृक्ष—सभी पुलकित थे, उल्लासमें भरे थे। वन सुसज्जित था, सुशोभित था, कोकिला-शुक आदि पक्षियोंकी मधुर ध्वनि सर्वत्र छा रही थी। मधुर आमपर मौर निकले हुए थे। निर्मल जलसे पूर्ण सरोवर और नदियाँ शीतलताका संचार कर रही थीं। कुञ्जकुटीर नवीन पल्लवों और पुष्पोंसे अलङ्कृत थीं। उनपर भ्रमरोंका समुदाय मधुर गुंजार कर रहा था। राधा अपनी अन्तरंग सखियोंको साथ लिये वहाँ कुञ्जकुटीरपर अत्यन्त प्रसन्नताके साथ आयीं और हँस-हँसकर उनके साथ मधुर वार्तालाप कर रही थीं एवं बातोंके अनुकूल अपना हस्तकमल भी हिला-डुला रही थीं। वह यह बतला रही थीं कि गतकल वे कुञ्जकुटीरमें क्यों नहीं आ सकीं, कैसे बेसुध हो गयी थीं और कैसे उनका स्थूल शरीर चेतनाहीन हो रहा था। वे कैसे अपने प्रियतम श्यामसुन्दरके ध्यानजनित सुखके समुद्रमें डूब रही थीं। वहाँ अन्य कुछ भी नहीं रह गया था, वे बस केवल प्रियतमके साथ लीला-स्वादन-सुख ले रही थीं। बाह्यज्ञान न रहनेके कारण वे विवश थीं और इसीसे कल यहाँ आनेका संकेत वे स्मृतिमें नहीं रख सकी थीं और इसीलिये वे बाहर अपने प्रियतम आनन्दनिकेतन श्रीश्यामसुन्दरके दर्शन नहीं कर पायी थीं।

सखियोंसे कह रही लाड़िली
थी यों—इसी बीच शुचि एक
श्याम-सखी आ बोली—'राधा !
सुनो बात मेरी सविवेक ॥
अखिल-रसामृत-सिन्धु रसिक-प्रिय
यहाँ पधारे थे कल श्याम।
बड़ी मधुर आशा ले मनमें
तुमसे मिलनेकी अभिराम ॥
पर न प्राप्त कर तुम्हें, हुए
अति कातर दुखी स्वयं सुखधाम।
भूल अन्न-जल-निद्रा, रहे
प्रतीक्षामें आतुर वसु-याम ॥
अन्तरङ्ग सखियोंने प्रातः
देखा, पड़े अचेत उदास।
किसी तरह ले गयीं उठा
वे उनको सत्वर कुंजविलास ॥
छिड़क गुलाब कराया चेतन,
मनमें भरे विषाद अपार।
हा राधे ! हा प्राणवल्लभे !
प्रिये ! तभीसे रहे पुकार' ॥

इस प्रकार लाड़िली श्रीराधाजी कह ही रही थीं कि इसी बीच श्यामसुन्दरकी एक पवित्र सखी आकर कहने लगी—'राधा ! विवेकके साथ मेरी बात सुनो। अखिल रसामृतके सागर रसिकशिरोमणि प्रियतम श्यामसुन्दर कल यहाँ पधारे थे। वे तुम्हारे मनोहर मिलनकी बड़ी मधुर अभिलाषा लेकर आये थे, पर तुम उनको नहीं मिली। इससे वे स्वयं सुखके धाम भगवान् अत्यन्त कातर और दुखी हो गये तथा अन्न-जल और नींदको भुलाकर आठ पहरतक तुम्हारी आर्त होकर प्रतीक्षा करते रहे। तुम न आयी। प्रातःकाल अन्तरंग सखियोंने जाकर देखा श्यामसुन्दर उदास-मुख अचेत पड़े हुए हैं, तब वे किसी तरह उन्हें उठाकर तुरंत 'विलासकुञ्ज'में ले गयीं। वहाँ गुलाबजल छिड़ककर उन्हें चेत तो करा दिया पर वे तभीसे मनमें अपार विषाद-भरे 'हा राधे ! हा प्राण-वल्लभे ! हा प्रिये !' पुकार रहे हैं !'

श्याम-सखीसे सुनते ही दुःख-
प्रद समाचार यह घोर।
अधोमुखी हो सुधामुखी
श्रीराधा हुई विषाद-विभोर ॥
राधा-हृदय-विषाद क्षणोंमें
निकला, फैला चारों ओर।
मुरझाये तरु-लता, हो गये
अति विषण्ण शुक-पिक-अलि-मोर ॥
मलिन हुई सब वन्य-प्रकृति अति
छाया सभी ओर अनुताप।
तुरत जल उठा बड़वानल-सा
सर-सरिता-जल अपने-आप ॥

श्यामसुन्दरकी सखीके मुखसे यह घोर दुःखदायी समाचार सुनते ही अमृतमुखी श्रीराधा मुख नीचे करके विषादमें डूब गयीं। राधाके हृदयका विषाद क्षणोंमें ही (ह्लादिनीशक्तिके विषाद-ग्रस्त होते ही) बाहर निकलकर वनमें चारों ओर फैल गया। वनकी बेलें और वृक्ष मुरझा गये और शुक, कोकिला, मयूर तथा भ्रमर सब अत्यन्त दुखी हो गये। वनकी सारी ही प्रकृति अत्यन्त मलिन हो गयी। सभी ओरसे मानो वन जलने लगा। यहाँतक कि सरोवर और नदियोंका जल भी समुद्रकी अग्निकी तरह अपने-आप ही उबल उठा।

हो व्याकुल अर्धोन्मत्त-सी
उठी, न तनकी तनिक सँभाल।
नेत्रोंसे बह चली उष्ण
धारा, था मन चञ्चल बेहाल ॥
दिव्य सुकोमल काँप उठा
सुकुमार मधुर वह स्वर्ण-शरीर।
करने लगी करुण-क्रन्दन वह
सिसक-सिसककर बनी अधीर ॥
हूँ मैं कैसी नीच पापिनी,
हुई ध्यान-सुखमें जो लीन।
भूली प्रियतम-सुख, मैं बनकर
स्व-सुख-वासना-जलकी मीन ॥
दुःख-हेतु मैं हूँ प्रियतमकी
नीच स्वार्थमें सनी असार।

ऐसे पतित घृणित जीवनको
बार बार अतिशय धिक्कार ॥
मेरे लिये प्राणवल्लभको
सहना पड़ा घोर संताप।
भूखे-प्यासे रहे, न सोये,—
किया भयानक मैंने पाप ॥
प्रेम-नामको किया कलङ्कित
काम-पापसे मैं भरपूर।
प्रियतम-सुखघातिनि मैं दुःख-
विधायिनि, सदा मोह-मद-चूर ॥
कैसा क्या मैं करूँ घोर इस
पातकका अब प्रायश्चित्त।
नहीं त्याग, तप, शुचिता मुझमें,
नहीं तनिक भी साधन-वित्त ॥
डूबी रहूँ दुःखसागरमें
नित्य निरन्तर काल अनन्त।
यदि इस पातक-बीज स्वसुख-
अभिलाषा-पातकका हो अन्त ॥

राधा व्याकुल होकर अर्ध-उन्मत्तकी तरह उठकर खड़ी हो गयीं। उन्हें अपने शरीरकी तनिक भी सुधि नहीं थी। उनके नेत्रोंसे गरम-गरम आँसुओंकी धारा वह चली। मन चञ्चल था। सब तरहसे बुरा हाल था। राधाका वह अत्यन्त कोमल दिव्य मधुर सुकुमार स्वर्ण-सा शरीर काँप उठा और वह अधीर बनी हुई सिसक-सिसककर करुण क्रन्दन करने लगीं। बोलीं—मैं कैसी नीच पापिनी हूँ, जो ध्यानजनित सुखमें लीन हो गयी। मैं अपने सुखकी वासनारूपी जलकी मछली बन गयी। अपने सुखमें ही लगी रही और प्रियतमके सुखको भूल गयी। मैं सारहीन नीच स्वार्थमें सनी हुई प्रियतमके दुःखका कारण बनी। ऐसे मेरे पतित और घृणित जीवनको बार-बार अत्यन्त धिक्कार है। मेरे लिये प्राणप्रियतमको कितना घोर संताप सहना पड़ा। वे भूखे रहे, प्यासे रहे और सोये तक नहीं।—मैंने यह कितना भयानक पाप किया। मैंने प्रेमके पवित्र नामको कलङ्कित कर दिया; क्योंकि मैं निज-सुख-कामनारूप पापसे भरी-पूरी हूँ। मैं प्रियतमके सुखका नाश करनेवाली और दुःखका विधान करनेवाली हूँ। मैं सदा ही मोह और मदमें चूर रहती हूँ। हाय! अब मैं इस घोर पापका कैसे क्या प्रायश्चित्त करूँ? मुझमें न तो त्याग है, न तप और न पवित्रता ही है एवं न तनिक-सी भी साधन-सम्पत्ति है। अतएव यदि सारे पापोंके बीज इस निज-सुख-कामनारूप पापका अन्त हो जाय तो मैं नित्य-निरन्तर अनन्तकाल तक दुःखसागरमें डूबी रहनेको प्रस्तुत हूँ।

प्रभो! कृपाकर करो आज तुम
मुझे वरद हे! यह वर दान।
कभी नहीं छोड़ूँ प्रियतमको,
करूँ न कभी भूलकर ध्यान ॥
जहाँ बुलावें, जब जो चाहें,
जाऊँ, करूँ वही मैं काम।
मनकी छोड़ सभी मैं चिपटी
रहूँ चरण-युग आठों याम ॥

फिर बोलीं—हे प्रभो! हे वरदायक! मुझपर कृपा करके आज तुम मुझे यह वर प्रदान करो कि मैं कभी प्रियतमको न छोड़ूँ। कभी भूलकर भी उनका ध्यान न करूँ (क्योंकि ध्यानजनित निज सुखमें निमग्न होकर मैं उनके सुखको भूल जाती हूँ)। वे मुझे जहाँ बुलावें, वहीं जाऊँ; जब जो चाहें—वही काम करूँ। अपने मनकी सब कुछ छोड़कर मैं केवल उनके चरण-युगलसे ही चिपटी रहूँ।

इतना कह पड़ गयी धरणिपर
अकस्मात् होकर अज्ञान।
प्रकट हुए वे प्रेमरसार्णव
प्रियतम तुरत स्वयं भगवान ॥
उठा, भुजा भर ले निजाङ्कमें
किया भाल कोमल कर स्पर्श।
जगी चेतना देख प्राण-
प्रियतमको हर्षित, उमड़ा हर्ष ॥

उठी, पार्श्वमें बैठी, दोनों
लगे देखने अपलक नैन।
फिर बरसाने लगे नेत्र
दोनोंके शीतल रस सुख-ऐन॥
लगे परस्पर क्षमा माँगने—
दोनों दोनोंके आराध्य।
धन्य प्रेम ! हो जाता जिसमें
साध्य सुसाधक, साधक साध्य॥

इतना कहकर श्रीराधा अकस्मात् अचेतन होकर पृथ्वीपर गिर पड़ीं। इतनेमें वे प्रेमरस-समुद्र प्रियतम स्वयं भगवान् तुरंत प्रकट हो गये और अपनी भुजाओंसे भरकर उन्होंने राधाको उठाकर अपने अङ्कमें ले लिया तथा उनके भालपर अपने कोमल करसे स्पर्श किया। प्रियतमके करकमलका स्पर्श पाते ही राधाकी चेतना जाग उठी और सहसा प्राणप्रियतमको अपने समीप हर्षित देखकर उनका भी हर्ष उमड़ आया। वे उठकर बगलमें बैठ गयीं और दोनों दोनोंको निर्निमेष नेत्रोंसे देखने लगे। तदनन्तर दोनोंके नेत्र सुख-अयन सुशीतल रसकी वर्षा करने लगे। दोनों ही दोनोंसे परस्पर क्षमा माँगने लगे। दोनों ही दोनोंके आराध्य हैं। इस प्रेमको धन्य है—जिसमें 'साध्य' 'सुन्दर साधक' बन जाता है और 'साधक' 'साध्य' बन जाता है।

प्रभुकी सत्ता

(लेखक—श्रीप्रह्लादरायजी व्यास 'साहित्य-सुधाकर')

एक राजा बहुत घमण्डी तथा नास्तिक था, परंतु उसका मन्त्री बहुत विनम्र-स्वभाव तथा शान्तप्रकृतिका भगवद्भक्त था। वह नित्य राजासे कहता—'महाराज ! आप भी भगवान्की उपासना किया करें; क्योंकि उसकी इच्छाके बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। जैसे शरीरके लिये भोजन परमावश्यक है, अन्यथा यह चल-फिर नहीं सकता, उसी प्रकार आत्माके लिये उपासना-प्रार्थनाकी अत्यन्त आवश्यकता है। यहाँतक कि भोजनके बिना तो आदमी जीवित रह सकता है; परंतु उपासना अथवा प्रभु-प्रार्थना किये बिना मनुष्य जीवित मुर्दा है। जिस प्रकार मुँहको साफ करनेके लिये नित्य दाँतुन करना जरूरी है, कुछ दिन दाँतुन नहीं करनेसे हमारा मुँह सड़ने लग जाता है, उसमें कीड़े पड़ सकते हैं। उसी प्रकार आत्माको विकसित करनेके लिये नियमित उपासना करना भी जरूरी है। अन्यथा हमारे इस जीवनमें कीड़े पड़ जायँगे अर्थात् वह नष्ट हो जायगा और हम इस आवागमनके चक्करमें ही चक्कर काटते रहेंगे।' राजाको मन्त्रीकी बातोंसे बड़ा गुस्सा आता था, वह भगवान्के नामसे ही चिढ़ता था। एक दिन फिर मन्त्रीने उसे समझाया कि 'महाराज ! भगवान्का स्मरण किया करें' तो वह बहुत क्रोधित हुआ और उसने कहा कि 'इतने बड़े राज्यका शासन तो मैं चलाता हूँ और तुम कहते हो कि उसकी मर्जीके बिना एक पत्ता भी हिल नहीं सकता। इस बातको तुम सिद्ध करो कि भगवान्की ही इच्छासे सब कुछ होता है, उसकी सत्ता सर्वोपरि है। अन्यथा मैं तुम्हें प्राणदण्ड दूँगा। तुम्हें सात दिनका समय दिया जाता है अपने कथनको प्रमाणित करनेके लिये। आठवें दिन यदि तुम प्रभुसत्ता सिद्ध न कर सके तो तुम्हें फाँसीपर लटका दिया जायगा।'

प्रभुकी सत्ताको किस प्रकार प्रमाणित किया जाय, इसपर विचार करते-करते मन्त्री बहुत दूर जंगलमें पहुँच गया। उसे प्राणदण्डका भय नहीं था; क्योंकि

वह जानता था कि आत्मा अजर, अमर है, मृत्यु केवल परिवर्तन मात्र है शरीरके चोलेका। परंतु उसे चिन्ता इस बातकी थी कि वह अपनी बात किस प्रकार प्रमाणित करे; क्योंकि 'प्रभु है' इसका अनुभव तो उपासना या साधना करनेसे ही होता है। वह विचारोंमें खोया जा रहा था कि उसे सामने एक बालक तपस्या करता मिला। मन्त्री उसे नमस्कार करके पास बैठ गया। उस बालकने मन्त्रीसे कहा कि 'भाई! तुम गृहस्थी दिखायी देते हो। गृहस्थको छोड़कर क्या जंगलमें तपस्या करने आये हो? यदि ऐसी बात है तो तुम्हें वापस चले जाना चाहिये; क्योंकि गृहस्थमें रहकर जो ब्रह्मनिष्ठ होता है, वही वस्तुतः श्लाघ्य है।' मन्त्रीने कहा—'नहीं, तपस्वी बालक! मैं गृहस्थका त्याग करके नहीं आया हूँ। मेरे सामने एक समस्या है। राजाका कहना है कि सारा शासन मैं चलाता हूँ, प्रभुकी सत्ता कुछ नहीं करती। उसने कहा है कि प्रभुकी सत्ताको यदि तुम प्रमाणित नहीं करोगे तो आठवें दिन तुम्हें प्राणदण्ड दे दिया जायगा।' मन्त्रीकी यह बात सुनकर वह तपस्वी बालक मुस्करा उठा और उसको धैर्य बँधाते हुए बोला—'तुम चिन्ता मत करो और मुझे अपने राजाके पास ले चलो। मैं प्रभुकी सत्ताको सिद्ध कर दूँगा।' मन्त्री उस बालकको अपने साथ ले आया और दूसरे दिन उसे राजाके सामने ले जाकर खड़ा कर दिया और बोला—'राजन्! आपका प्रश्न इतना साधारण है कि यह छोटा-सा बालक ही उसका उत्तर दे देगा।' राजाने उस बालकसे पूछा—'बताओ, भगवान् किस प्रकार शासन चलाता है?' बालकने कहा—'राजन्! आप जिज्ञासु बनकर मुझसे कुछ बात पूछना चाहते हैं, मुझसे कुछ समझना चाहते हैं तो यह कहाँ तक उचित है कि आप सिंहासनपर बैठे रहें और मैं आपके सामने खड़ा रहूँ? मुझे आप मानवताके नाते कोई आसन तो बैठनेको दीजिये।' राजाने अपनी भूल स्वीकार की और तुरंत अपने राज्यसिंहासनसे उतरकर उस बालकको उसपर बिठा दिया और आप उसके सामने खड़ा हो गया। जब बालक राज्यसिंहासनपर बैठ गया तो उसने कहा—

> खुदाकी हुकूमतका हरसू अमल है।
> तफ़्फ़कुरमें क्यों जान अपनी है खोता॥

'राजन्! क्या अब भी आपकी समझ नहीं आयी कि प्रभुकी सत्ता कितनी विचित्र है! वह जिसे चाहे एक क्षणमें राज्यगद्दीसे उतारकर भिखारी बना दे। आप थोड़ी देर पूर्व इस सिंहासनपर बैठे थे और उसने एक क्षणमें आपको उतारकर मुझे जंगलसे बुलाकर यहाँ राज्यसिंहासनपर बिठा दिया! क्या यह प्रभुकी सत्ताका चमत्कार नहीं?' राजा बालककी बातसे प्रभावित होकर नतमस्तक हो गया; परंतु अन्तःकरणसे पूर्ण संतुष्ट नहीं हुआ। बालकने कहा—'राजन्! मैं बहुत भूखा हूँ। मेरे कण्ठ भी सूख रहे हैं। हो सके तो मेरे लिये एक गिलास दूध मँगवा दो।' राजाके एक इशारेपर ही एक सेवक दूधका कटोरा भरकर ले आया। दूधके कटोरेको हाथमें लेकर बालकने राजासे पूछा—'राजन्! क्या आप जानते हैं कि इस दूधमें घी है; परंतु क्या वह दिखायी देता है? निश्चय ही उत्तर होगा कि वह दिखायी नहीं देता। परंतु दूधमें घी है अवश्य। यदि इसी दूधको जमाकर दही बना दिया जाय और दहीको मथा जाय तो अवश्य घी निकलेगा। इसीलिये विद्वान् संतोंने कहा है—

> दूध दहीमें रमि रह्या ब्यापक सब ही ठौर।
> दादू वक्ता बहुत हैं, मथि काढ़े ते और॥

'राजन्! अब आप समझ गये होंगे कि भगवान् सर्वत्र है, उसकी सत्ता सर्वोपरि है; परंतु जिस प्रकार दूधका दही जम जाता है उसी प्रकार यदि साधक अपनी साधनापर जम जाता है और अपने अन्तःकरणमें

मन्थन करता है, अर्थात् अपनी बुराइयोंको निकालता है और अच्छाइयोंको धारण करता है, तो उसका साक्षात्कार सम्भव है। इस मानव-हृदयमें दैवी वृत्तियाँ और आसुरी वृत्तियाँ जन्मसे होती हैं। जब एकान्त स्थानमें एक निश्चित स्थानमें एक निश्चित समयमें नित्य बैठकर मानव अपनी दृष्टिको अन्तर्मुखी करता है, तब इन दोनों वृत्तियोंका संघर्ष होता है और संघर्षसे शक्ति उत्पन्न होती है और आसुरी वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं। फिर मानवमें प्रेम एवं सेवाकी भावना पैदा हो जाती है।

'राजन्! यह जीवन जलतरंग-जैसा चपल है, यौवन कुछ ही दिन टिकता है। धन-सम्पत्ति, राज्य-लक्ष्मी आदि कमलपत्रपर पड़ी जलबूँदकी भाँति क्षणस्थायी हैं, विषय-सुखका प्रवाह वर्षा ऋतुमें चमकनेवाली बिजलीके समान है। ऐसा समझकर हे राजन्! इस भवसागरको यदि पार करना चाहते हो तो भगवान्‌की भक्तिमें चित्त लगाओ। बाह्य प्रवृत्तिमें लगे हुए मनको अन्तर्मुखी बनानेसे प्रसन्नता बढ़ती है, मन निर्मल होता है। प्रसन्नता या निर्मलताके बढ़नेसे परमात्माका दर्शन होता है और दर्शन होनेसे संसारके बन्धनोंका नाश होता है तथा मोक्षकी प्राप्ति होती है। भगवान्‌से मिलनेके लिये सेवा, इन्द्रियसंयम, सत्य-मृदु वाणी, गुरुसेवा, भजन-ध्यान, समता, निर्मोहता, प्राणिसेवा, पूर्ण निष्ठासे सर्वत्र भगवद्भाव आदि आवश्यक हैं। जिस प्रकार पति-व्रता नारी अपने पतिके अतिरिक्त अन्य किसी पुरुषका ध्यान नहीं करती, उसी प्रकार साधकको भी सिवा एक अपने इष्ट भगवान्‌के अन्यका ध्यान नहीं करना चाहिये।

'भगवान्‌को न माननेके कारण मनुष्य अहंकाररूपी बन्धनमें पड़ जाता है और आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक दुःख भोगता है। उस दुःख-गर्तमें गिरे हुएको भगवान् प्रकाश देते हैं; पर मानव फिर भी नहीं सँभल पाता और बार-बार जाग्रत् करनेपर भी सुषुप्त रहता है। केवल मूर्खलोग ही कहा करते हैं भगवान् नहीं हैं जबकि वह सबके ही हृदयमें निवास करता है। भगवान् तो प्रेमस्वरूप हैं और प्रतिपल मानवका पथ-प्रदर्शन करता है तथा उसकी रक्षा करता है। राजन्! आप ईश्वरको नहीं मानते, इसलिये आपकी प्रजा भी प्रभुसे विमुख है और भगवान्‌को न माननेकी लहर आपके देशमें फैल गयी है। आपके देशमें आर्थिक विषमता है। प्रभुके साथ आर्थिक विषमताका सम्बन्ध जोड़ना न्यायसंगत नहीं। धन जीवनयापन करनेका एक साधन है, साध्य नहीं। जिन लोगोंने ईश्वरके स्थानपर धनको आवश्यकतासे अधिक महत्त्व दिया है, उनके जीवनमें अशान्ति है।

'इसलिये राजन्! यदि आप अपना, अपने देशका और जनताका कल्याण चाहते हैं तो स्वयं प्रभु-विश्वासी बनकर जनतामें भगवान्‌का विश्वास उत्पन्न कीजिये और उसके आर्थिक, नैतिक, चारित्रिक एवं आध्यात्मिक स्तरको ऊँचा उठाइये। निश्चय कीजिये प्रभुके भजन बिना मोक्ष नहीं होता।'

बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

राजाके हृदय-कपाट खुल गये। अविद्या (अज्ञान)-का भूत भग गया, उसकी नास्तिकता नष्ट हो गयी और वह उस बालकका शिष्य बन गया एवं प्रभु-सत्ताके समक्ष नतमस्तक होकर भगवत्-भजन करने लगा। उसके राज्यमें सुख-शान्ति छा गयी। यों राजा तथा प्रजा दोनोंका जीवन-स्तर ऊँचा उठ गया।
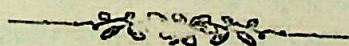
जीवनमें स्वरोदयकी महत्ता

(लेखक—श्रीगुरु रमप्यारेजी अग्निहोत्री, गुरुकुञ्ज-कुटीर, उपरहटी, रीवा, म० प्र०)

जीवनमें स्वरोदयका ज्ञान परम सिद्धिदायक होता है। यह अत्यन्त गोपनीय विषय है, अत्यन्त उत्तम ज्ञान है और सबसे बढ़कर धन ही है। स्वर-बल संसारमें एक बड़ी भारी शक्ति है। इससे शत्रुका पराभव होता है, लक्ष्मीकी उपलब्धि होती है और संसारका ऐसा कोई भी काम नहीं जो इससे सिद्ध नहीं होता। स्वरोदयशास्त्रके प्रवर्तक भगवान् शंकर हैं, जिन्होंने भगवती पार्वतीको गोपनीय स्वरोदयका ज्ञान कराया था। प्राचीन ऋषि-मुनि इसके ज्ञाता होते थे और यही कारण था कि वे त्रिकालदर्शी, महान् सिद्ध, इच्छानुसार जीवन-मरणके अधिकारी थे। स्वरोदयका ज्ञान ब्रह्मप्राप्तिका साधन है। स्वरोदय-ज्ञानकी महत्ता अनादिकालसे भारतीय जीवनमें अक्षुण्ण रही है और इसीके आधार-पर भारत ज्ञानकी सृष्टिमें अग्रगण्य रहा है।

आज स्वरोदयका ज्ञान शायद ही किसीको है और जिसको यह ज्ञान होगा, वह जीवनमें महान् सफल व्यक्ति भी होगा। स्वरोदय-शास्त्र बहुत विस्तृत और गम्भीर अध्ययन एवं मननका विषय है। यहाँ-पर मैं जीवनमें काम आनेवाले कुछ स्वरोंका ही संक्षेपमें उल्लेख करूँगा और वह भी अपने अनुभव एवं बोधगम्यताके आधारपर ही।

यह शरीर अनन्त रूपवाली नाड़ियों (शिराओं) से बना हुआ है। नाभिसे लेकर कण्ठपर्यन्त बहत्तर हजार नाड़ियोंका जाल फैला हुआ है। इन्हीं नाड़ियोंमें संचरित होनेवाली वायु-गतिका ज्ञान ही स्वरोदय-ज्ञान है। नाभिमें स्थित कुण्डली-नलिका ही बहत्तर हजार शिराओंका आदिस्थान है। इस नलिकासे दस नाड़ियाँ ऊर्ध्वगामिनी और दस ही अधोगामिनी प्रधान हैं। इनमें कुछ तिरछी, कुछ ऊँची और कुछ नीची उपनाड़ियाँ हैं। सम्पूर्ण नाड़ियाँ चक्रकी भाँति समस्त शरीरमें व्याप्त हैं। इन नाड़ियोंमें दस नाड़ियाँ प्रधान हैं। इन नाड़ियोंकी स्थिति इस प्रकार है।

(१) इड़ा—शरीरके बायीं ओर अर्थात् शरीरके वामभागमें।

(२) पिंगला—शरीरके दाहिने भागमें।

(३) सुषुम्ना—मध्य शरीरमें।

(४) हस्तिजिह्वा—दाहिनी आँखमें।

(५) पूषा—दाहिने कानमें।

(६) यशस्विनी—बाँयें कानमें।

(७) अलम्बुषा—मुखमें।

(८) कुहू—लिङ्गदेशमें।

(९) शाङ्खिनी—गुदा भागमें।

(१०) गान्धारी—बायीं आँखमें।

इन दस नाड़ियोंमें भी प्रधान तीन ही नाड़ियाँ हैं, जिनसे स्वरज्ञान होता है। ये प्रधान नाड़ियाँ—इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना हैं। दसों नाड़ियाँ शरीरके दसों द्वारोंपर स्थित रहती हैं। इन्हीं नाड़ियोंके आश्रयमें शरीरमें पाँच प्राणवायु और पाँच ही उपप्राण-वायु स्थित रहते हैं। प्राणों और उपप्राणोंकी स्थिति इस प्रकार है।

१—प्राणवायु—

(१) प्राण वायु—हृदयमें।

(२) अपान वायु—गुदा स्थानमें।

(३) समान वायु—नाभिदेशमें।

(४) उदान वायु—कण्ठके मध्यभागमें।

(५) व्यान वायु—समस्त शरीरमें।

२—उपप्राण वायु—

(१) नाग वायु—डकारके साथ निकलनेवाला।

(२) कूर्म वायु—जिस वायुके द्वारा आँखकी पलकें खुलती और बंद होती हैं।

(३) कृकल वायु—छींक आते समय वायुका वेग जो अंदर जाकर बाहर निकलता है।

(४) देवदत्त वायु—जँभाईके साथ अंदर प्रवेश करनेवाला वायु।

(५) धनञ्जय वायु—शरीरके जीवित तथा मृतक अवस्था तकमें बना रहनेवाला वायु।

उपर्युक्त पाँच प्राण और पाँच ही उपप्राण वायु शरीरके अंदर फैली हुई समस्त नाड़ियोंमें संजीवनी शक्तिका संचार किया करते हैं। यही प्राण और उपप्राण वायु नाड़ी-संचरणके प्रधान कारण हैं। प्राण वायुओंके अभावसे नाड़ियोंकी गति विकृत हो जाती है। नाड़ियोंकी स्वस्थता प्राण और उपप्राण वायुकी गतिपर ही निर्भर रहती है।

प्रधान तीन नाड़ियोंमें—इड़ामें चन्द्र, पिंगलामें सूर्य और सुषुम्नामें भगवान् शंकरजीका निवासस्थान प्राचीन ऋषियोंने माना है। इड़ानाड़ी शुभदायक और सभी कामोंमें सिद्धिदाता है। पिंगला नाड़ी जगत्को उत्पन्न करनेवाली और सुषुम्ना नाड़ी अशुभ-दायिनी मानी गयी है। इड़ा नाड़ीमें चन्द्रका निवास होनेसे चन्द्रनाड़ी और पिंगलामें सूर्यका स्थान होनेसे सूर्यनाड़ी भी कहा जाता है।

चन्द्रनाड़ीके प्रवाहके समय प्रारम्भ किये गये सभी कार्य सिद्ध होते हैं। सूर्यनाड़ी क्रूर कर्मोंमें—लड़ाई-झगड़े आदिमें सिद्धिदायक होती है। भुक्ति-मुक्ति-का फल देनेवाले कर्म सुषुम्ना नाड़ीके प्रवाहमें करने उत्तम होते हैं। नाकके दोनों छेदोंसे समान प्रवाह-वाली वायुकी गति सुषुम्ना नाड़ीका फल है।

शरीरका प्रधान रक्षक वायु ही है। शरीरमें बाहर-से भीतर दस अंगुल और भीतरसे बाहर बारह अंगुल वायुकी गति साधारण रूपसे होती है। यह गति स्थिरावस्थाकी है; किंतु शारीरिक क्रियासे इसकी गतिमें अन्तर हो जाता है। जैसे चलनेमें चौबीस अंगुल, दौड़नेमें बयालीस अंगुल, स्त्री-प्रसंगमें पैंसठ अंगुल, भोजन तथा वमनके समय अठारह अंगुल और सोते समय सौ अंगुल वायुकी बाह्यगति हो जाती है। ये गतियाँ इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियोंके द्वारा ही जानी जाती हैं। नाड़ियोंपर दिन, रात तथा तिथियोंका भी प्रभाव स्वाभाविक रूपसे पड़ता है। शुक्लपक्षमें चन्द्रस्वर प्रतिपदासे लेकर तृतीयातक, उसके बाद चतुर्थीसे लेकर षष्ठीतक सूर्यस्वरका क्रम तीन-तीन दिनके अन्तरसे पूर्णमासीतक चलता है और कृष्णपक्ष-में प्रतिपदासे लेकर तृतीयातक सूर्यस्वर और चतुर्थीसे लेकर षष्ठीतक चन्द्रस्वरका क्रम अमावस्यातक चलता है। शुक्लपक्षमें ब्राह्ममुहूर्तके अवसरपर ढाई घड़ी चन्द्रस्वर और उसके बाद सूर्यस्वरका प्रवाह होता है। इसी प्रकार कृष्णपक्षमें ढाई घड़ीतक सूर्यस्वर और फिर चन्द्रस्वर क्रम-क्रमसे दिनकी साठ घड़ियोंतक चलता रहता है। इस तरह मानव-स्वर दिन-रात तथा पाक्षिक गतियोंसे पूर्ण प्रभावित है।

उपर्युक्त क्रमसे यदि नाड़ियोंद्वारा स्वरकी गति चलती रहती है तो जीवन स्वस्थ और आनन्ददायी होता है और यदि इसके विपरीत यानी शुक्लपक्षमें चन्द्रस्वरके स्थानपर सूर्यस्वर और कृष्णपक्षमें सूर्यस्वरके स्थानपर चन्द्रस्वर प्रवाहित होता है तो जीवन कष्टमय एवं उलझनोंमें ही व्यतीत होता है। जीवनकी गतिविधिकी परीक्षाके लिये इन स्वरोंका ज्ञान होना आवश्यक है। ऋषि-मुनियोंको इन स्वरोंका पूर्ण ज्ञान रहता था; यही कारण था कि वे भविष्यके ज्ञाता होते थे। इन स्वरोंका प्रभाव व्यक्तिगत जीवनतक ही निर्भर

नहीं है, अपितु बाह्यजगत्‌की गति-विधियाँ भी निर्भर हैं । जिनके लिये सफल साधना और अभ्यासकी आवश्यकता होती है ।

इस तरह यदि मानव अपनी स्वरगतियोंका आश्रय लेकर दैनिक जीवनमें प्रवेश करता रहे तो कोई संदेह नहीं कि वह भारी-से-भारी विपत्तिसे त्राण पा सकता है । स्वर-ज्ञानसे संसारमें कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है । दुर्लभ है स्वरज्ञानका अध्ययन और अभ्यास । इस छोटेसे निबन्धमें मैंने केवल स्वर-ज्ञानकी भूमिका ही लिख पायी है । यदि पाठकोंको यह विषय रुचिकर और कल्याणकारी प्रतीत हुआ तो मैं भविष्यमें इस प्रकार अधिक और विस्तृत प्रकाश डालनेका प्रयत्न करूँगा ।

खोना सोना है

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

खोना सोना है । सच, हँसी नहीं करता ।
कैसे—जानना चाहते हो ।
तो उतरो तनिक तहमें ।
इस जीवनमें खोना-ही-खोना है कि कुछ और ?
कौन है जिसने उम्रके साथ-साथ कुछ-न-कुछ खो नहीं दिया है ?
और पानेके नाते देखें, तो भी क्या दीखता है ? यही तो !
जो पाया जाता है, जो पा रहे हैं क्या वह भी खोनेके लिये नहीं है ?

किसी-न-किसी दिन सब खोया ही जाता है अथवा हम ही उससे खोये जाते हैं । बात तो एक ही है । खोना हर हालतमें पत्थरकी लकीर बनकर रहता है ।

तो खोनेसे तो बचा ही नहीं जा सकता । आवश्यकता भी नहीं है इसकी, क्यों खोना व्यर्थ नहीं, सोना बननेके लिये है । पर बने तो तब, जब बनाना आये किसीको ।

स्मरण रहे—

योगः कर्मसु कौशलम्

खोनेमें खोओ और खोना सीखो तो सोना बना धरा है, मिला धरा है, हुआ धरा है ।

वह सोना जिसपर स्वयं अकल्मषता मुग्ध है, जो नितान्त खालिस है, जिसमें न कभी खोट रहा है, न कभी रहेगा ।

हाँ, तो सब खोकर यह सोना पाओ और फिर इस स्वर्ण-प्रभुमें स्वयंको खो अमर हो दिप्-दिप् दमको तीनों लोकमें, तीनों कालमें—सदैव !····सर्वत्र । और क्या चाहिये ।

तो देखा न ?
खोना सोना है । सच, हँसी नहीं करता ।

प्रकाशके पुनर्जन्मकी आश्चर्य-घटना

'मैं छातामें अपनी माँके पास जा रहा हूँ।' दस-वर्षीय मरणासन्न बालक निर्मलके मुखसे ये शब्द सुनकर बालकके माता-पिता तथा परिजनोंका शोक द्विगुणित हो गया। उन्होंने उसे मरणसे पूर्वका प्रलाप समझा। बालक इस समय अपने माता-पिताके साथ कोसीकलाँमें रहता था। छाता ग्राम उस स्थानसे छः मीलकी दूरीपर स्थित है। माता-पिता तथा परिजनोंको शोकमें रोता-बिलखता छोड़कर बालकने देहका त्याग कर दिया।

किंतु निर्मलकी मृत्युके प्रायः चार महीने पश्चात् ही जुलाई १९५०में छाता-निवासी श्रीबृजलाल वार्ष्णेयके कुलमें प्रकाश नामक एक बालकने जन्म लिया। जब यह बालक ४½ वर्षका हुआ तभीसे अर्द्धरात्रिके समय अपना बिस्तर त्यागकर वह प्रायः किसी मार्गकी खोजमें सड़कपर चलकर आ जाया करता था। उसके माता-पिता उसे ऐसा करनेसे रोकते तो वह कहा करता था 'मेरा घर तो कोसीकलाँमें है और मैं वहाँ जाना चाहता हूँ।' इस प्रकार निरन्तर चार-पाँच राततक प्रकाशद्वारा उपर्युक्त क्रियाकी पुनरावृत्ति किये जानेपर उसके माँ-बाप बड़े चिन्तित हो गये और उसके बाल-मनको बहलानेके लिये वे उसे यह कहकर विपरीत दिशामें ले गये कि उसे कोसीकलाँ ले जाया जा रहा है। बालक यह बात पहचान गया तथा बार-बार कोसीकलाँ जानेका आग्रह करने लगा। अन्तमें हारकर उसके पिता एक दिन उसे कोसीकलाँ ले आये और उसे अपनी दूकान पहचाननेके लिये कहने लगे। लेकिन दूकान बंद होनेसे वह बालक उसे पहचान न सका और जैन-परिवारसे बिना मिलाये ही उसके पिता उसे वापस छाता लौटा लाये; किंतु भोलानाथ जैनके परिवारवालोंको जब इस बातका पता चला कि कोई अद्भुत बालक उनसे मिलने छातासे कोसीकलाँ लाया गया था तो उस बालकके सम्बन्धमें विस्तृत जानकारी प्राप्त करनेकी इच्छा उनके मनमें जाग्रत् हुई और वे बालकसे मिलनेका अवसर देखने लगे।

प्रकाशको अपने पूर्वजन्मका स्मरण उस समयतक रहा जबतक वह ४॥-५ सालका था। किंतु उसके माता-पिता आदि द्वारा विशेष ध्यान न दिये जानेपर वह शनैः-शनैः अपने पूर्वजन्मकी घटनाओंके सम्बन्धमें भूलता गया और यदि वह यदा-कदा इस सम्बन्धमें अपनी कोई जिज्ञासा या हठ प्रदर्शन करता तो उसके पिता उसे पीटकर उस बातको भूल जानेके लिये बाध्य करते। इस प्रकार पाँच सालकी अवस्थाके पश्चात् बालकके मनसे उसके पूर्वजन्मकी बातोंको भुला दिया गया और या तो पिटाईके डरसे अथवा किसी अन्य कारणसे बालकको भी इस सम्बन्धमें कोई उत्साह न दिखानेके लिये विवश होना पड़ा और अब वह अपने पूर्वजन्मसे सम्बन्धित घटनाओंके विषयमें बहुत कम ही बोलता था।

इसी बीच एक महत्त्वपूर्ण घटना घट गयी। कोसीकलाँ-निवासी निर्मलके बड़े भाई श्रीजगदीशके एक पुत्रकी मृत्यु भी अल्पायुमें ही हो गयी। इस समय वह बालक ३॥ सालका था। इस बालककी मृत्यु हो जानेसे जैन-परिवारवालोंका छाता-स्थित प्रकाशके प्रति ममत्व फिर जाग्रत् हो गया और समयान्तरसे इस जैन-परिवारके बहुत-से सदस्य प्रकाशसे मिलनेके लिये आने लगे। प्रकाश बिना बताये हुए ही प्रायः सभीको स्वतः ही पहचान लेता और उन्हें उसी नामसे भी सम्बोधित करता जो उनका वास्तविक नाम होता। इस संदर्भमें जब निर्मलकी बहिन तारा उससे मिलने आयी तो प्रकाश खुशीसे रो उठा और उसने अपने पितासे पुनः आग्रह किया कि उसे कोसीकलाँ ले जाया जाय।

जैन-परिवारवालोंकी निरन्तर प्रार्थनापर प्रकाशके माता-पिता उसे कोसीकलाँ ले जानेके लिये राजी हो गये । कोसीकलाँ पहुँचकर प्रकाशने बस-अड्डेसे ही जैन-परिवारके घरका सही रास्ता दिखाना प्रारम्भ कर दिया, किंतु वह उनके मकानके दरवाजेके पास जाकर ठिठक गया और मकानके अंदर जानेसे हिचकिचाने लगा । इसका कारण स्पष्ट था कि निर्मलकी मृत्युके पश्चात् उस मकानका प्रवेशद्वार काफी बदला जा चुका था । किसी प्रकार घरके अंदर प्रवेश कर लेनेके पश्चात् उसने प्रथम दृष्टिमें ही निर्मलकी माँ, दो भाई तथा उनकी चाची एवं पड़ोसियोंको पहिचान लिया । उसने मकानके अंदरके उन भागोंसे भी अपना परिचय बतलाया जहाँ निर्मलके रूपमें वह रहता था और उसकी मृत्यु हुई थी ।

दुर्भाग्यवश प्रकाशकी इस यात्राने उसके मनमें कोसीकलाँके प्रति एक विशेष लगाव उत्पन्न कर दिया था जिसके फलस्वरूप वह बार-बार अपने पिताजीसे उसे कोसीकलाँ ले जानेका आग्रह करता रहा । प्रकाशके पिता उसे अपने यहाँसे खो देनेके भयसे उसे पीटते और सब बातें भूल जानेके लिये कहते । यह क्रम चलता रहा ।

किंतु प्रकाशकी कोसीकलाँकी दूसरी यात्राके पश्चात् ही करीब तीन सप्ताह बाद शोधकर्ताओंका एक दल घटनाकी जाँचके लिये पहुँचा । घटनाएँ इस समय ताजी थीं और लगातार पूछताछ किये जानेके कारण वार्ष्णेय-परिवारवालोंको यह भय लगने लगा कि कहीं वे बालकको सदा-सर्वदाके लिये अपनेसे खो न दें । शोधकर्त्ताओंने जिन विशेष बातोंका जिक्र इस घटनाके सम्बन्धमें किया है; वे संक्षेपमें यों हैं—

(१) छाता ग्राम तथा कोसीकलाँ छः मीलकी दूरीपर स्थित हैं । और चूँकि कोसीकलाँ एक व्यापारिक केन्द्र है इसलिये दोनों परिवारवालोंका वहाँ आना-जाना सम्भव है—किंतु वहाँ आते-जाते रहनेपर भी इस घटनासे पूर्व दोनों परिवारवालोंका परस्पर एक दूसरेसे कोई सम्बन्ध नहीं हुआ था और न दोनों परिवारवालोंके कोई भी सदस्य एक दूसरेको जानते ही थे । दरअसल उन्हें तो इस घटनाका पता प्रकाशके कोसीकलाँ जानेके बाद ही मालूम हुआ था ।

(२) वार्ष्णेय-परिवारवालोंका कहना है कि प्रकाश अपनी पहली यात्रासे पूर्व कभी भी कोसीकलाँ नहीं ले जाया गया था । और जैन-परिवारवालोंका कहना है कि निर्मल भी अपने जीवनकालमें केवल एक बार छाता होता हुआ गुजरा था; किंतु वह वहाँ ठहरा नहीं था ।

(३) प्रकाश और निर्मलके व्यक्तित्व और व्यवहारमें भी कुछ समानताएँ पायी गयी हैं । वार्ष्णेय-परिवारवालोंसे पूछताछ किये जानेपर उन्होंने बताया था कि प्रकाश रातमें सोते हुए बहुत बार उठ जाया करता था—और कोसीकलाँ भागनेकी चेष्टा करता था । उसकी इस चेष्टाके कारण वे लोग बड़े परेशान थे और कोई मार्ग निकालनेकी चिन्तामें थे । इसी बीच जैन-परिवारवाले जब उससे मिलने आये तो उन्हें देखते ही उसकी आँखोंमें आँसू आ गये और तब वह विशेषरूपसे कोसीकलाँ जानेका आग्रह करने लगा ।

(४) जब प्रकाशने शोधकर्ताओंके साथ अपने भाई जगदीशको देखा तो वह खुशीसे उछल पड़ा और ऐसा देखा गया कि उसके ऐसे व्यवहारसे वार्ष्णेय-परिवारवालोंमें यह डर व्याप गया कि कहीं यह लड़का हमेशाके लिये उनसे अलग न हो जाय ।

(५) शोधकर्त्ताओंने यह भी पाया कि जब प्रकाश बड़ी बहिन तारासे मिला था तो अत्यन्त आत्मीयतासे उसने उसका नाम लेकर उसे सम्बोधित किया था और उस समय उसकी आँखोंमें आँसू भी थे । प्रकाशने इसी प्रकार निर्मलके पिता श्रीभोलानाथ जैनको

भी पहिचान लिया था। जब निर्मलका भाई देवेन्द्र वहाँ उससे मिलने आया तो उसने उसे देवेन्द्र कहकर ही पुकारा था। उसके अतिरिक्त लोगोंकी भीड़मेंसे उसने अपने पूर्वजन्मके एक भाई जगदीशको भी पहिचान लिया था। उसने अन्य जिन वस्तुओं, व्यक्तियों तथा स्थानोंकी पहिचान की उनमें दूकानमें रक्खा आगरेसे लाया गया काले रंगकी लकड़ीका एक बक्सा था, मकानका वह कमरा था जिसमें वह सोया करता था तथा अपने एक पड़ोसी टेकचन्दके बारेमें बताता था।

इस प्रकार यह अनुभव किया गया है कि प्रस्तुत घटना पूर्वजन्मकी अनेक घटनाओंसे भिन्न तथा अलग महत्त्वकी है। और यह घटना उन विशेष घटनाओं-मेंसे एक है जिनका अध्ययन तथा संग्रह हमारा यह विभाग पिछले कुछ वर्षोंसे कर रहा है। 'परामनो-विज्ञानविभाग' राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर, पूर्वाग्रह-रहित होकर वैज्ञानिक प्रणालीके सहारे पूर्वजन्मकी समस्याके व्यावहारिक पक्षका अध्ययन एवं अनुसंधान कर रहा है। इस हेतु हम सुधी पाठकोंसे निवेदन करते हैं कि इस प्रकारकी घटनाओंके सम्बन्धमें अधिक-से-अधिक जानकारी वे हमें भेजें और उनके सम्बन्धमें पर्याप्त साधन उपलब्ध करायें ताकि हम उनका विधिवत् अध्ययन कर सकें। इस सम्बन्धमें पाठक निम्नलिखित पतेपर पत्रव्यवहार कर सकते हैं—

प्रोफेसर हेमेन्द्रनाथ बनर्जी, संचालक परामनो-विज्ञान-विभाग राजस्थान, विश्वविद्यालय जयपुर, (राजस्थान)

जब क्रोध आता है !

(लेखक—श्रीगौरीशंकरजी गुप्त)

क्रोध एक मानसिक विकार है। जिस अनुपातसे यह मानसमें उत्पन्न होता है, उसीके अनुसार इसके कारण विकृत अवस्थाकी सूचना मिलती है। मनुष्य समझता है कि हमारे क्रोधसे दूसरे डरेंगे; पर उलटे अपने ही हथियारसे स्वयं चालक ही घायल हो जाता है। यह है क्रोधका गुणधर्म। जहाँसे यह उत्पन्न होता है, वहींपर प्रथम प्रहार करता है। इस दृष्टिसे क्रोधी व्यक्तिको बलशाली नहीं, किंतु निर्बल समझना चाहिये। इसका शीघ्र असर विचारशक्तिपर पड़ता है। इसके उत्पन्न होते ही प्रथम मस्तिष्क और बादमें विचारोंमें शून्यता आती है। एक चीनी लोकोक्तिमें कहा गया है कि 'तुम समझते हो कि हमारी जलायी हुई क्रोधकी आगमें हमारे दुश्मन जलकर भस्म हो जायँगे; पर यह तुम्हारी उलटी समझकी बलिहारी है। वस्तुतः सबसे पहले तुम्हीं अपने क्रोधकी आगसे जलकर संकुचित हो जाओगे।'

गीतोपनिषद्के अनुसार आत्माको पतनोन्मुख करने-वाले तीन ही मानसिक विकार हैं—(१) काम, (२) क्रोध और (३) लोभ। गीताके अनुसार काम और क्रोधकी उत्पत्ति रजोगुणसे होती है। इस गुणकी अधिकता होनेपर विशेषतः पित्तदोष कुपित होता है। यों तो विदेहका वचन है कि क्रोध और शोकसे वात, पित्त और शोणित—ये तीनों कुपित होते हैं। वात और पित्त दोष हैं और इनके द्वारा प्रभावित रक्त दूष्य संज्ञक है। ये सभी विकृत हो शरीरमें अनेक प्रकारके रोगोंके उत्पादक बनते हैं; अतएव क्रोधको हमेशा ही शरीरका प्रबल शत्रु समझे, सदा सतर्क रहकर उसे जीतनेके उपाय करता रहे।

उपर्युक्त सभी स्थितियोंको ध्यानमें रख बुद्धके वचनमें कहा गया है—अनत्थ जननो क्रोधो। अर्थात् क्रोध सभी प्रकारके अनर्थोंका जनक है। जिसने क्रोधको जीत लिया, उसने करीब-करीब सभी मानसिक

विकारोंपर अपना प्रभुत्व कर लिया। बौद्ध-साहित्यके मानसिक विकारोंके वर्णनक्रममें यह कहा गया है कि जब मन क्रोधाभिभूत हो जाता है, उस समय विवेककी शक्तिपरीक्षा शुरू होती है; क्योंकि क्रुद्ध व्यक्ति क्रोधकी ऊष्मामें अपने मनका संतुलन खो बैठता है। कैटो नामक एक विदेशी लेखकने कहा है कि जिस समय कोई क्रोधके चंगुलमें फँस जाता है उस समय उसका मुख तो खुला रहता है, पर उसके नेत्र (ज्ञान) बंद हो जाते हैं। क्रोध उत्पन्न होनेके समय उसके द्वारा होनेवाले परिणामोंका भी स्मरण कर लेना चाहिये; पर ऐसा उस वक्त सोचता कौन है ?

एक उक्तिका अंश है—क्रोध करे पै साधे मौन। क्रोध करनेसे शरीरमें जहरका अंश बढ़ जाता है। यह जहर रक्तमें विकार उत्पन्न होनेसे आता है। क्रोधित होनेसे शारीरिक दोष और उन दोषोंद्वारा दूष्य (रक्त) विकृत हो जाता है। विदेहका वचन है—

क्रोधशोकौ स्मृतौ वातपित्तरक्तप्रकोपनौ।

भावार्थ यह कि विशेष क्रोधयुक्त होनेसे या शोक करनेसे स्मरणशक्ति, वात, पित्त तथा रक्त—ये विकारयुक्त या विशेषरूपसे कुपित हो जाते हैं। इन छहों—तीन मानस विकार तथा तीन शारीरिक धातु—वात, पित्त और रक्त—के विकृत होनेसे अनेक प्रकारकी स्वतन्त्र तथा संकर व्याधियोंके उपस्थित होनेकी सम्भावना बनी रहती है। अतएव प्रथम तो क्रोध करना ही नहीं और यदि क्रोध आ भी जाय तो उस कालमें मौनावलम्बन कर लेनेसे उसका वेग समाप्त हो जाता है। उपर्युक्त लोकोक्तिद्वारा ऊपर वर्णन किये हुए सभी विकारों या रोगोंसे शरीरकी रक्षाके लिये एक ही उपाय 'मौन' का अवलम्बन कर उन सबके आक्रमणसे बच निकलनेकी सलाह दी गयी है।

क्रोधनाशका उपाय

छोटी हो या बड़ी—जब कामना पूरी नहीं होती, मनचाही बात नहीं होती तब कामनापर एक चोट लगती है और वह चोट खायी हुई कामना ही क्रोध बन जाती है। जबतक कामना है, तबतक क्रोध भी होगा ही; क्योंकि सारी कामनाएँ कभी भी, किसीकी भी पूरी नहीं होतीं। कामनाका नाश होता है—विषयासक्तिके न रहनेसे। अतएव विषयोंके बदले भगवान्‌में प्रीति की जाय और जो कुछ भी फल प्राप्त हो—मनचाहा या मनका न चाहा, अनुकूल या प्रतिकूल—उसे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् अपने सहज ही परमसुहृद् भगवान्‌का मङ्गल-विधान समझा जाय तो कामना यदि कहीं होगी भी तो उसपर चोट नहीं लगेगी—क्योंकि अनुकूलता-प्रतिकूलता दोनोंमें भगवान्‌की मङ्गलमयताके दर्शनके कारण समता रहेगी। यों विषय-कामना अपने-आप ही नष्ट हो जायगी और क्रोधकी उत्पत्ति नहीं होगी। साधारणतया क्रोधसे बचनेका उपाय है—क्रोधके समय चुप रहना या भगवान्‌के नामका जप-कीर्तन करने लगना।

हिंदू-संस्कृतिके रंगमें रँगे रहीमके काव्यमें प्रभु-महिमा

(लेखक—श्रीगोवर्धनलालजी पुरोहित, एम्० ए०, बी० एड्)

अब्दुर्रहीम खानखाना अकबरके दरबारके सबसे प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। वे अपने समयके अनुपम योद्धा ही नहीं, वरं प्रमुख साहित्यकार भी थे। मुसल्मान होते हुए भी हिंदू-संस्कृतिके प्रति उनका अटूट अनुराग था। अतः उन्होंने हिंदी भाषामें हिंदू-संस्कृतिका जितना वर्णन किया, उतना वे अरबी और फारसीमें मुस्लिम सभ्यताके तत्त्वोंको नहीं अपना सके। हिंदू-संस्कृतिकी यह विशेषता रही कि इसने अहिंदू लोगोंको भी अपनी ओर अधिकाधिक आकर्षित किया। ये सब इस संस्कृतिकी विशालता तथा सजीवताके प्रतीक हैं। रहीमने हिंदूधर्मके शास्त्रोंका अध्ययन किया; हिंदू मान्यताओंको अपनाया। कहते हैं कि हिंदू-संस्कृतिके प्रबल समर्थक भक्तशिरोमणि संत कवि तुलसीदासजीसे उनकी प्रगाढ़ मित्रता थी। इतना ही नहीं, सम्राट् अकबरके प्रबल विरोधी, हिंदूधर्मके सजग प्रहरी; महाराणा प्रतापके प्रति उनका अटूट प्रेम था। हिंदूधर्मके प्रमुख तत्त्व ईश्वरोपासनामें उनका अपूर्व विश्वास था। यही कारण है कि प्रभु-महिमाको उन्होंने अपने काव्यमें अधिकाधिक स्थान दिया।

ईश्वरके प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी। एक समय मेवाड़के महाराणा अपने कर्तव्यसे डगमगाने लगे। तब उन्होंने महाराणाको जो संदेश भेजा, उसमें उनका ईश्वरपर अडिग विश्वास स्पष्टरूपमें झलकता है—

> धर रहसी, रहसी धरम, खुस जासी खुरसाण।
> अमर बिसम्भर ऊपरै, राख निहचौ राण॥

'हे महाराणा! धर्म और पृथ्वी विश्वकी सनातन सम्पत्ति है। परंतु मुगलोंका राज्य स्थायी नहीं है। अतः तुम ईश्वरपर विश्वास कर धर्मकी रक्षा करते रहो।'

ईश्वरकी अपार शक्तिका जगह-जगह रहीमने अपने काव्यमें वर्णन किया है—

> अमर बेलि बिन मूलकी, प्रति पालत है ताहि।
> रहिमन ऐसे प्रभुहिं तजि, खोजत फिरिये काहि॥

बिना जड़की अमरबेलको प्रभु ही हरी-भरी रखते हैं। हे मानव! ऐसे कृपालु ईश्वरको छोड़कर तू संसारमें क्या ढूढ़ता रहता है?

> संतति संपति जानि के, सबको सब कुछ देइ।
> दीनबंधु बिन दीनकी, को रहीम सुधि लेइ॥

संतान, सम्पत्ति आदि सुख ईश्वर ही देनेवाले हैं। रहीम कहते हैं कि दीन-मानवकी सुधि लेनेवाले केवल ईश्वर ही हैं।

> समय दसा कुल देखिके, लोग करत सनमान।
> रहिमन दीन अनाथको, तुम बिन को भगवान॥

संसारमें कुल और वैभवको देखकर ही प्रतिष्ठा दी जाती है। साधारण दीन मानवको अपनानेवाले तो प्रभु ही हैं, उनके सिवा और कौन है?

> गहि सरनागत रामकी, भव सागर की नाव।
> रहिमन जगत उधार कर, और न कछू उपाव॥

जीवनरूपी नौकाको प्रभुकी शरणमें छोड़ दो। भव-सागरको पार करनेका इसके अतिरिक्त और कुछ भी उपाय नहीं है।

> धन दारा अरु सुतनमें, रहत लगाये चित्त।
> क्यों रहीम खोजत नहीं, गाढ़े दिनको मित्त॥

हे मानव! तू धन, स्त्री और संतानकी मायामें ही उलझा हुआ है। अन्त समयमें इनमेंसे कोई भी काम आनेवाला नहीं है। अतः तू ईश्वरको क्यों नहीं खोजता है?

> जो रहीम तन मन दियो, कियो हिए बिच भौन।
> तासों दुख सुख कहन कौं, रही बात अब कौन॥

ईश्वरने ही हमें तन-मन दिया। वह अपनी आत्मामें निवास करता है। उनसे प्रार्थना करनेमें हमें किसी प्रकारका संकोच नहीं होना चाहिये।

> रहिमन राम न उर धरैं, रहत बिषय लपटाय।
> पसु खर खात सवाद सों, गुर गुलियाये खाय॥

रहीम कहते हैं कि मानव ईश्वरको तो अपने हृदयमें धारण नहीं करता है और विषय-वासनामें लिप्त रहता है; जैसे पशु खल (तिलोंका तेल निकलनेके बादकी वस्तु) तो स्वादसे खाता और गुड़ देनेपर भी नहीं खाता है।

प्रीतम छबि नैनन बसी, पर छबि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि, आप पथिक फिरि जाय॥

प्रभुकी शोभा नयनोंमें समा जानेके बाद संसारके विषयोंकी ओर हमारी आँखें नहीं जायँगी। विषय-वासनाएँ प्रभुको देखकर उसी प्रकार फिर जायँगी। जिस प्रकार सरायको भरी हुई देखकर यात्री अपने आप वापस लौट जाता है।

रहिमन बहु भेषज करत, व्याधि न छाँड़त साथ।
खग मृग बसत अरोग बन, हरि अनाथ के नाथ॥

बहुत अधिक चिकित्सा करनेपर भी रोग दूर नहीं होते हैं। केवल प्रभुकी शरणागति ही रोगोंसे छुटकारा दिला सकती है। जैसे जंगलके पशु-पक्षी किससे चिकित्सा कराते हैं? उनके तो एकमात्र चिकित्सक श्रीभगवान् ही हैं।

धूर धरत नित सीसपर, कहु रहीम केहि काज।
जिहि रज-मुनि-पतनी तरी, सो ढूँढ़त गजराज॥

संत कवि तुलसी और रहीममें परस्पर बड़ा प्रेम था। यदा-कदा ये मिलते भी रहते थे। मिलनेपर काव्य तथा धार्मिक चर्चा इनका प्रधान विषय रहता था। एक बार तुलसीने रहीमसे प्रश्न किया—'बताओ रहीम! हाथी अपने सिरपर बार-बार धूल क्यों डालता रहता है?' रहीमने उत्तर दिया—'हे संत महात्मा! हाथी प्रभुकी उस चरण-रजको ढूँढ़ रहा है, जिसके प्रतापसे गौतम-नारी अहल्याका उद्धार हुआ था।' (रहीमका हिंदूशास्त्रोंका अध्ययन अनूठा था।)

माँगे मुकुरिन को गयो, केहि न त्यागियो साथ।
माँगत आगे सुख लह्यो, ते रहीम रघुनाथ॥

संसारके लोगोंसे माँगनेपर वे मना भी कर जाते हैं। विपत्ति देखकर ये लोग साथ भी छोड़ देते हैं। हे मानव! प्रभु हमेशा देते रहते हैं। अतः उनसे माँगनेपर ही सुखकी प्राप्ति होती है।

रहिमन मनहिं लगाय कै, देखि लेहु किन कोय।
नरको बस करिबो कहा, नारायण बस होय॥

मनको लगानेपर क्या नहीं होता। कोई लगाकर देख ले मनुष्य तो क्या स्वयं नारायण वशमें हो जाते हैं।

जिहि रहीम चित आपनों, कीन्हों चतुर चकोर।
निसि बासर लागो रहै, कृष्णचन्द्रकी ओर॥

अपने मनको चकोर बना लो, जिससे वह भगवान् श्रीकृष्णकी ओर सर्वदा लगा रहे।

दोहोंके अतिरिक्त रहीमने बरवै तथा पद भी लिखे हैं। उनमें भी प्रभु-भक्तिका भाव कूट-कूटकर भरा है।

पिय मूरति चित चरिया चितवति बाल।
चितवत अवध सनेरवा जपि जपि माल॥

× × × ×

पीतम मिले सपनवाँ भो सुख खानि।
आनि जगायेसि चेरिया भइ दुख दानि॥

रहीम सगुण उपासक थे। स्वप्नमें वे सुखकी खान श्यामसुन्दरको देखते हैं। परंतु दासीने आकर उनको (रहीमको) जगा दिया। अतः प्रभु-वियोगसे उन्हें बड़ा दुःख हुआ।

भजि मन राम सियापति रघुकुल ईस।
दीन बंधु दुखटारन कोसलाधीस॥

हे मन! दीनबन्धु, दुःखोंको दूर करनेवाले कोसलाधीशका स्मरण करते रहो।

सगुणोपासना हिंदूसमाजकी अमूल्य निधि है। सूर, मीराँ तथा रसखानकी तरह रहीम श्रीकृष्णके रूप-लावण्यपर लुभा जाते हैं। इस तरहके रहीमरचित अनेक पद मिलते हैं। उनमेंसे दो यहाँ दिये जाते हैं—

छबि आवन मोहनलालकी।
काछे काछनि कलित मुरली कर पीत पिछौरा सालकी॥
बंक तिलक केसर को कीनों दुति मानो बिधु बालकी।
बिसरत नाहिं सखी मों मनते चितवनि नयन बिसालकी॥
नीकी हँसनि अधर सुधरनि छबि छीनी सुमन गुलालकी।
जलसों डार दियो पुर इन पर डोलनि मुकुता मालकी॥
आप मोल बिनु बोलनि, डोलनि बोलनि मदन गोपालकी।
यह सरूप निरखै सोइ जानै इस रहीमके हालकी॥

श्यामसुन्दर, मदनगोपालके रूपको निरखकर कवि भावविभोर हो जाते हैं—

कमल दल नैननि की उनमानि।
बिसरत नाहिं सखी मो मनतें मंद मंद मुसकानि॥
यह दसनन दुति चपला हू ते महा चपल चमकानि।
सुधा की बस करी मधुरता सुधा पगी बतरानि॥

चढ़ी रहे चित उर बिसाल की मुकत माल थहरानि ।
नृत्य साथ पीतांबरहू की फहरि फहरि फहरानि ॥
अनुदिन श्रीवृन्दावन ब्रज ते आवन-आवन जानि ।
अब रहीम चित ते न टरति है सकल स्यामकी बानि ॥

वास्तवमें रहीम बड़े धन्य थे जो राजकाजमें इतने व्यस्त रहते हुए भी उन्होंने इतने सुन्दर काव्यकी रचना की। सत्संग, प्रभु-महिमा-वर्णनसे उन्होंने अपना जीवन सफल बनाया। मनुष्य चाहे किसी धर्ममें पैदा हुआ हो, यदि उसके पास मानवीय हृदय हो तो वह हिंदू-संस्कृतिके रूपपर मोहे बिना नहीं रह सकता। प्रभु-महिमाके महत्त्वको न समझकर आधुनिक लोग नास्तिक होते जा रहे हैं। इस तरह जीवनके स्थायी आनन्दसे हम दूर होते जा रहे हैं। आशा है हम रहीमकी उपर्युक्त प्रभु-महिमा-वर्णनसे प्रेरणा लेकर आस्तिक-भावसे ईश्वरका स्मरण करेंगे।

मनसुख-विरह-शतक

(रचयिता—श्रीजसवंतजी रघुवंशी)

[गताङ्क पृष्ठ १०९१ से आगे]

(६७)

देख यों मुझको व्याकुल विकल
व्यथित पीड़ित निरीह असहाय ।
न फटती धरती भी तो अरे,
समा जाऊँ मैं जिसमें हाय ! ॥
अरे दिनकर ! कर तू ही दया,
जला दे, जो हूँ तेरे हाथ ।
कर लिया है प्राणोंने मेल,
मुझे छल, विरह-ज्वालके साथ ॥
अरे ओ नीलनिलय ! क्या नहीं
तुझे भी आती मुझपर दया ?
उठा ले तू ही फैला बाहँ,
धरासे तो, अब जी भर गया ॥
अरे मुझ हतभागिनिकी आह
नहीं सुनता है कोई आज ॥
हाय ! क्या मैं ही पैदा हुई
अकेली लेकर ऐसा भाग ॥
इस तरह हो व्याकुल छटपटा
तड़प मछली-सी और कराह ।
लोटने लगी धरणिपर हाय !
भग्न-मन राधा भर-भर आह ॥

षष्ठ तरंग

(६८)

उस समय देख दशा इस भाँति
छूट गया वसुन्धराका धीर ।
पवनके हुए द्रवित उच्छ्वास,
गगनके उरसे बरसी पीर ॥
विकल हो तड़प उठी छटपटा
मिलन-थलकी हरेक प्राचीर ।
रो पड़ा हिलकीभर मनसुखा,
डालपर सिसके बैठे कीर ॥
बह चला अविरल अश्रु-प्रवाह
बाँध उरके धीरजका तोड़ ।
हुई विह्वल ललिता, दुख गया
कलेजेको बेतरह झिंझोड़ ॥
उठा राधाको छाती लगा
गोदमें रख मस्तक चुपचाप ।
पोंछ आँचलसे रह-रह अश्रु
लगीं करने अतिशय अनुताप ॥
दिशाओंके अकुलाये प्राण,
आह भर डोल गया भूगोल ।
बहे गद्गद स्वरसे जिस समय
विकल मनसुखके विह्वल बोल ॥

(६९)

न रो दीदी ! हा ऐसे बिलख,
देख मुझ वज्र-हृदयकी ओर ।
मौतके मुँहसे भी जो निकल
जी रहा रह दुखमें सरबोर ॥

इस तरह तड़पानेसे कभी
न निकलेंगे ये आकुल प्राण ।
छटपटानेसे हे मेरी बहिन!
न पाओगी इस दुखसे त्राण ॥
एक दिन इसी भाँति मैं और
जा फँसा मात यशोदा-गेह ।
वहाँ भी बिलकुल तेरी तरह
विकल देखा था मैंने नेह ॥
उसीने बना दिया था मुझे
बावला इतना, जो मैं ऊब ।
जानकर जीवन दुखमय घोर
गया था कालिन्दीमें डूब ॥
किंतु अब दीदी ! तुमको देख
मिला है अनुपम नया प्रकाश ।
कला जीनेकी जागी भव्य,
हुआ हूँ अबके नहीं हताश ॥

(७०)

सोचता हूँ जब खोना प्राण
नहीं अपने हाथोंकी बात ।
किस लिये घुला-घुलाकर इन्हें
वृथा पहुँचायें भीषण ताप ॥
कृष्णमय होकर जब ये स्वयं
सदा करते हैं उनकी याद ।
बहिन ! तब बोलो कैसे ठीक
उन्हें पहुँचाना विषम विषाद ? ॥
अरे ये प्राण बने जो स्वयं
सलोने साँवरियाका गेह ।
लगाना उसमें दीदी ! आग
कौन-सा है बोलो यह नेह ? ॥
हाय ! जिस मन-मन्दिरमें बिठा
प्राण करते मोहनसे रमण ।
कहाँका दीदी ! वह उपदेश
करायें उन्हें मृत्युका वरण ?
अतः जब जीना ही है हमें,
सीखनी होगी जीवनकला।
नहीं तो लुट जायेगा बहिन !
आजतक जो कुछ भी है मिला ॥

(७१)

प्राणकी भट्टीमें जो सुलग
प्रज्वलित रहता है दिन-रात ।
न जिसको रंच मात्र भी कभी
बुझा पाती दृगकी बरसात ॥
अग्निमें घृत-आहुतिकी भाँति
और भी जाता है जो भड़क ।
पजलती रहती है हर साँस
न जलती फिर भी दुखकी कड़क ॥
उबलता रहता पल-पल प्यार
कढ़ाईमें ज्यों स्मृतिकी, उफन ।
बदलता रहता क्षण-क्षण रंग,
लपटकी बढ़ती ज्यों-ज्यों तपन ॥
दीखता जिसमें नव निर्माण,
अन्तमें आता है वह दृश्य ।
चमक उठता कुन्दन-सा बहिन !
उपस्थित क्षण बन मधुर भविष्य ॥
खोलता है दीदी ! जो जटिल
अखुल उलझी जीवनकी गिरह ।
किस तरह हो सकता है कहो—
प्राणलेवा वह साथी विरह ॥

(७२)

मिलन भी वैसे तो अति मधुर
प्राणमें भरता है उन्माद ।
न फिर भी कम मीठा है बहिन !
प्रतीक्षित उत्कण्ठाका स्वाद ॥
प्रेमके तिल-तिल नूतन भाव
मिलनमें पीते हैं रस शान्त ।
किंतु अमरित-रस पीती सदा
बहिन ! पपिहाकी प्यास अशान्त ॥
प्रेमके भावोंको संयोग
बनाता मधुरस पिला सुघुप्त
सुनाता जाग्रतिका संदेश
वियोगी प्रेमीका उर तप्त ॥

किंतु कहनेका आशय नहीं,
विछुड़नेको ही करें सँयोग।
परिस्थितिकी है यह तो बात—
गया है मिल जब स्वयं वियोग॥
ठीक है पीना ही तब वहिन!
हमें उसका भी प्रेम-पराग।
रागका रस जब हमने पिया,
लगायें क्यों ना हृदय विराग॥

(७३)

किया करता प्रेमीका हृदय
निरन्तर प्रेमास्पदका ध्यान।
उसीके भजन, मनन, गुण-गान,
कीर्तन, चिन्तन-रसका पान॥
शमन होती जब अपनी चाह
प्राणपतिकी चाहोंमें डूब।
न रहती है तब कोई भ्रान्ति,
तर्क, मीमांसा, भटकन, ऊब॥
शुद्धतम, सुरभित पुष्पित, हृदय
इस तरह तज अग-जगके खोट।
मस्त मधुकर-सा नित रस-पान—
करे प्रिय चरणकमलमें लोट॥
सधेगा उस क्षण स्वयं समत्व,
लगेंगे शाप मधुर वरदान।
सतायेगा तब कोई नहीं,
लोभ-मद-मोह-मान-अपमान॥
समर्पित हो जब यों सम्पूर्ण
प्रेम प्रेमास्पदमें हो विलय।
लगेगी धरती गाने गीत
पुण्य नित बरसायेगा निलय॥

(७४)

अतः मेरा तो निश्चित हुआ
आजसे सुन लो दीदी! ध्येय।
वही होगा अब साधन, सिद्धि,
योग, जप-तप, उपमा-उपमेय॥
घूमकर व्रजके हर घर-गाँव
गली द्वारे वह मधु संदेश।
सुनाऊँगा मत कोई सहो,
आजसे कृष्ण-विरहका क्लेश॥
प्रेमका नहीं कभी आदर्श
करे निज प्रेमास्पदको दुखी।
उलहने देना दुखमें सुलग,
भावना है केवल मनमुखी॥
अरे जिसमें सुख पाये सदा
हमारा प्यारा सुन्दर श्याम।
करो अब सिहा-सिहा कर सभी
वही प्रियतम मन-चाहे काम॥
चाहता है वह उसका विरह,
सहें हम बनकर धीर गँभीर।
करें ना उसको कभी उदास
सुनाकर अपनी-अपनी पीर॥

(७५)

बुझाने निकला है वह कृष्ण
धराकी छातीके अंगार।
उठाने, भक्तोंके उर रखे
अनेकों बोझोंके अम्बार॥
रहे हैं लूट अभी सुख-चैन
कंस-से भी अति दुर्जय दुष्ट।
उन्हें करना है देखो अभी
तुम्हारे गिरधारीको नष्ट॥
अरे, तब शोभा देता नहीं,
हमें कर कर भारी अनुताप
वहाँ उस पुण्य-कार्यमें लगे,
श्यामको पहुँचाने संताप॥
कर रहा है वह जो कुछ वहाँ,
उसीको यहाँ बना कर लक्ष्य।
करें उन भावोंका विस्तार
सजाकर अपने झुलसे वक्ष॥

बनाया है जब उसने स्वयं
प्यार देकर हमको निष्काम ।
प्रणयकी पा ऐसी सौगात
न मंगलमय मिटना हर याम ॥

(७६)

उठो दीदी ! तो आँसू पोंछ
कृष्णका लेकर प्यारा नाम ।
सुनाओ ऐसे पावन गीत,
गा उठे कण-कण राधेश्याम ॥
करो ललिते ! अब रोना बंद,
छोड़ दो तुम भी विरही भेष ।
सुनाना है सखियोंमें पहुँच
तुम्हें भी मोहनका संदेश ॥
समयपर चेत गये हम सभी,
अन्यथा बढ़ती इतनी आग ।
पजल जाती यह सारी सृष्टि,
न हो जाता क्या बड़ा अकाज ? ॥
प्रथम तो करना है यह काम
इकट्ठे कर सब गोपी-ग्वाल ।
मिटाओ सबके मनकी पीर
बनाकर अपना हृदय विशाल ॥
धन्य है दीदी ! मेरे भाग,
मिले जो तेरे चरण ललाम ।
विदा कर, दे अशीष, नित रहूँ
झूमता गा 'जय राधेश्याम' ॥

(७७)

विकल राधाने उस क्षण झूम
प्रेमसे होकर आत्म-विभोर ।
लगा छातीसे, बरसा स्नेह,
कर दिया मनसुखको सरबोर ॥
कहा फिर 'भैया ! तू है धन्य,
धन्य है तेरा पावन प्यार ।
कर दिये शीतल तन मन प्राण,
विरहका हटा हृदयसे ज्वार ॥
किये थे उद्धवने उपदेश,
तुम्हें भी होगी उनकी याद ।
न उनसे रंच मात्र भी दूर
हुआ था मनका बोझ विषाद ॥
न्यायकी तर्क, ब्रह्मका रूप,
ज्ञानकी बात, योगकी रीति ।
न समझी तिलभर भी मनसुखे !
बसी मन, मन-मोहनकी प्रीति ॥
किंतु तैंने तो ऐसा मधुर
सजाया प्रियका कर्मठ रूप ।
निरखकर पहलेसे भी अधिक
रीझ कर मैं बन गयी अनूप ॥

(७८)

'बन्धु जाओ ! निश्चयमें लगो,
करो पूरा प्रियका आदेश ।
करें हम सबकी रक्षा सदा
कृष्ण केशव माधव प्राणेश ॥
हमारा उनका नाता नित्य,
भला कब हो सकता है दूर ?
दूर होंगे जितने ही और
बसेंगे प्राणोंमें भरपूर' ॥
चलो ललिते ! अब तो ढल गयी
अमा-सी काली-काली रात ।
खिल रही है वह अरुणिम उषा
सजा अधरोंपर मधुर प्रभात ॥
मचलती है स्वासोंकी वेणु
स्वरोंमें भरकर मीठे नाम ।
कृष्ण केशव गिरिधर गोविन्द,
मुरारी मन-मोहन घनश्याम ॥
कन्हैया कमल-नयन, कंसारि,
नित्य नव-सुन्दर आनँदकंद ।
सलौने साँवरिया नँदलाल,
'जयति जय वृन्दावन व्रजचन्द' ॥
(क्रमशः)

अपनी संस्कृतिके प्रति घोर अनास्था और पतन!

अन्ध परानुकरण-प्रवृत्ति

हुए विदेशी हम स्वदेशमें कर सारा निजस्व बलिदान।
करते अन्ध 'परानुकरण' तज भारतीय-संस्कृति-अभिमान॥
'पर'-भाषा, 'पर'-वेष, 'पराया'-खानपान सब 'पर' आचार।
शय्या-सज्जा-भवन-भ्रमण सब ही 'पर', 'पर' मन-बुद्धि-विचार॥
बच्चे कहने लगे पिताको 'पप्पा' माँ को 'मम्मी' आज।
परम्परागत चाल छोड़ सब सजने लगे 'पराया' साज॥
हटा हृदयसे गुरुजन माता-पिता-पूर्वजोंका सम्मान।
'पर' बननेमें लगे मानने उन्नति, प्रगति, विकास महान॥

जिस जातिको अपनी संस्कृति, अपने पूर्वज, अपने आचार-विचार, अपनी वेष-भूषा, अपने खान-पान और अपनी परम्परागत निर्दोष पद्धतियोंके प्रति हीनताकी भावना, उपेक्षा-बुद्धि, दोषबुद्धि और त्याज्यबुद्धि हो जाती है और 'पराया' सब कुछ अच्छा, उच्च, गुणयुक्त और ग्रहण करने योग्य प्रतीत होने लगता है, वह जाति जीवित नहीं रहती। बाहरी विदेशी प्रबल आक्रमणकारी देशपर विजय प्राप्त कर सकते हैं पर हमारे स्वरूप-संस्कृतिपर विजय नहीं पा सकते। पर जब हम स्वयं ही अपनी संस्कृतिकी जड़ खोदने लगते हैं—हम ही अपने स्वरूपका त्याग करनेमें गौरव मानने लगते हैं तब तो हमारी हार ही नहीं, मृत्यु ही हो जाती है और बड़े खेदकी बात है कि तपःपूत ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न त्यागी ऋषि-मुनियोंके इस पावन देशमें आज अन्धाधुन्ध यही हो रहा है! हमारे आचार-विचार, हमारे शिक्षालय, हमारे धर्मस्थान, हमारे स्त्री-पुरुषोंके आचार, हमारी भाषा, हमारी वेश-भूषा, हमारे खान-पान, हमारे घर-मकान, हमारे भोजनालय-स्नानालय, हमारे शयनागार, हमारी परस्परके मिलन-प्रसंग, हमारे पत्रलेखन, हमारी बोल-चाल, हमारी कार्यपद्धति—सभीमें अपने प्रति उपेक्षा, घृणा तथा हीनताकी भावना और अन्धे होकर पराया अनुकरण करनेकी प्रवृत्ति प्रबल आँधीकी तरह इस प्रकार बढ़ रही है कि जो हमारी जड़ उखाड़नेपर उतारू है। भारतीय संस्कृति सत्यपर आधारित है और सत्य कभी मरता नहीं, इसलिये यह संस्कृति मरेगी तो नहीं—इसका मूलनाश तो कभी नहीं होगा। पर इसका जो गौरवमय स्थान आज मलिन होने जा रहा है और अपने ही हाथों, यह विनाशोन्मुखी प्रवृत्ति अवश्य कलङ्ककी बात है।

स्त्रियाँ मातृत्व और सतीत्वका त्याग करके केवल वासनाकी सामग्री बनती जा रही हैं। पुरुष महान् विषयपरायण, भोगी तथा अर्थपिशाच हो रहे हैं, बालक ध्रुव, प्रह्लाद, युधिष्ठिरको भूलकर अंग्रेजी या अमेरिकन चाल-ढाल तथा वेष-भूषामें रहना पसंद करते और छोटे-छोटे बच्चे घरोंमें भी पिताजी-माताजीके स्थानपर पप्पा, डैडी और मम्मी कहने लगे हैं। हमारा पहनावा, तो इधर इतना विदेशी हो गया है कि उसे देखकर विदेशीलोग तक आश्चर्य और दुःख प्रकट करते हैं। उस दिन मराठी 'सनातनी'पत्रमें प्रकाशित हुआ है कि नागपुरके हिस्लाप कालेजकी चालू वर्षकी मैगजीनमें उसी कालेजके एक अमरीकन प्राध्यापकने भारतीयोंकी अपनी पोशाकके प्रति बढ़ती हुई अनास्थापर अपने विचार प्रकट करते हुए जो कुछ कहा है, वह उन्हींके शब्दोंमें दिया जा रहा है—

The visitor seeks to adapt himself to local conditions but he first discovers that local conditions are determined to adapt themselves to him. It seems, in a word, as if Indians have decided to stop looking like Indians and start looking like Westerners.

(एक विदेशी) दर्शक भारतमें आकर यहाँके

आचार-विचार, वेष-भूषा, खान-पान इत्यादि विषयोंमें भारतीय कैसे रहते हैं—यह समझनेकी और अपनेको यहाँकी परिस्थितियोंके अनुकूल बनानेकी इच्छा करता है, परंतु इसके पूर्व ही तुरंत उसे पता चल जाता है कि भारतीय लोग तो हमारा (विदेशियोंका) अनुकरण करने—हमारे ही साँचेमें ढलनेका पूरा निश्चय कर चुके हैं। एक शब्दमें कहा जाय तो ऐसा लगता है मानो भारतीयोंने यह निश्चय कर लिया है कि वे भारतीय न दिखायी देकर पाश्चात्त्य दिखायी देने लगें।

Lacking the enthusiasm created by a revolutionary situation and impelled by convenience and an unconscious feeling of inferiority. Indians have abandoned their traditional national dress and jumped Dhotiless in to make-shift western trousers.

क्रान्तिकारक परिस्थिति—उत्साह, नवीन स्वतन्त्रताके प्राप्त होनेपर स्वाभाविक एक तेज प्रकट होना चाहिये था वह तो हुआ ही नहीं, वरं सुविधाके दृष्टिकोणसे और अपनेमें हीनताकी अज्ञात भावनाके द्वारा पराभूत मनोवृत्तिसे प्रेरित होकर भारतीयोंने अपनी परम्परागत राष्ट्रीय पोशाक तकको त्याग दिया और वे धोती उतारकर पश्चिमकी कामचलाऊ पतलून धारण करनेमें बड़प्पन मान रहे हैं।

The sympathetic visitor can only view the change with regret and wonder how many other vestiges of Indian culture will eventually be sacrificed.

(भारतके प्रति) हृदयमें सहानुभूति लिये हुए (विदेशी) दर्शक भारतीयोंमें इस परिवर्तनको देखकर केवल दुखी होता है और सोचने लगता है कि पता नहीं, अन्ततक ये भारतीय अपने कितने और सांस्कृतिक आचार-विचारों एवं प्रतीकोंका बलिदान कर देंगे।

ये भारतके प्रति सहानुभूति रखनेवाले एक विदेशी सज्जनके उद्गार हैं। वास्तवमें हमारे अपने प्रति हमारी अनास्था और नीच भावना हो गयी है और हम हर बातमें अपनी चीजको स्वीकार करनेमें लजाते हैं; इसीलिये हिंदू कहलानेमें, धोती-कुर्ता पहनकर बाहर निकलनेमें, धर्मका पालन करनेवाले कहलानेमें, माता-पिताके भक्त तथा आचारनिष्ठ कहलानेमें हमें लज्जाका बोध होने लगा है। यह बड़ी ही शोचनीय परिस्थिति है। ऋषि-मुनियोंकी वर्णाश्रम-प्रणालीने भारतीयता बचाया था; पर आज उसके प्रति घोर अनास्था होने लगी है। देशके मनीषियोंको इसपर गम्भीरतासे विचार करना चाहिये।

मानव ! सावधान

मानव ! तू भले सारी पृथ्वीपर विजय प्राप्त कर ले, भले ही अन्तरिक्षका अतिक्रम कर सुदूर चन्द्र-मंगलादि तक पहुँच जा और अपने विज्ञानकी विजयपताका फहरा दे। पर इससे न तो तू सुखी होगा, न तुझे शान्ति मिलेगी, न तेरा कल्याण होगा और न तू मृत्युका ग्रास बननेसे बच ही सकेगा। तेरी सच्ची विजय है, अपने मनको सर्वथा वशमें करनेमें—मनको सर्वथा आत्मनिष्ठकर या भगवान्में लगाकर आत्मसाक्षात्कार या भगवद्दर्शन करनेमें। इसीमें तेरे जीवनकी सफलता है, तेरा परम कल्याण है और तू सदाके लिये मृत्युके पाशसे बच सकता है। अन्यथा अवनि, अन्तरिक्ष और अगम्य लोकोंपर विजय प्राप्त करनेवाले अतीतकालके अतिपराक्रमी असुरोंकी भाँति तू अपने अहंकारको बढ़ाकर उसीकी पूजामें उन्मत्त बना इन्द्रियोंका दासत्व करता हुआ अपना अमूल्य जीवन खो देगा। सावधान !

ये भीषण जीवहत्याके सरकारी उद्योग !

भारतीय संस्कृति अध्यात्मप्रधान है। उसने जड-चेतन प्राणीमात्रमें एक अविनाशी आत्माका अस्तित्व केवल माना ही नहीं, उसके ऋषि-मुनियोंने इसका प्रत्यक्ष किया है। इसीसे भारतीय प्राणीमात्रका सुहृद् है, वह सहज ही सबका कल्याण चाहता है। आज हम अपने स्वरूपभूत महान् गौरवकी वस्तु उस अध्यात्मको भूलकर केवल भौतिक उत्थानके पीछे अन्धे या पागल होकर दौड़ लगा रहे हैं। फलतः अहंकार, ममत्व, कलह, अशान्ति, द्वेष, हिंसा आदि जोरोंसे बढ़ रहे हैं मानो इनकी सर्वत्र सभी क्षेत्रोंमें आँधी-सी आ गयी है और इसीसे आज हम केवल भौतिक लाभकी मिथ्या मृगतृष्णामें कर्तव्य-अकर्तव्यका कुछ भी ख्याल न करके सरकारी तौरपर हिंसापूर्ण उद्योगोंकी योजना बना रहे हैं और उन्हें कार्यान्वित करने जा रहे हैं। नये-नये यान्त्रिक कसाईखानोंकी योजना मछली-उद्योग-सूअर-उद्योगोंकी स्थापना तथा प्रसार, हत्या तथा अत्याचार करानेके लिये पशु-पक्षियोंका विदेशोंमें निर्यात, गोमांस, सूअर-मांस, गौओंकी आँतें, जीभ, खुर तथा मारे हुए पशुओंके अङ्ग-उपाङ्गोंके उद्योग, निर्माण और उनके निर्यातकी योजना आदि इसीके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

'सर्व-धर्म-अहिंसा-सम्मेलन'की पत्रिकाके अनुसार सन् १९६३ । ६४की सरकारकी निर्यात व्यापार-रिपोर्टमें प्रकाशित आँकड़े नीचे दिये जाते हैं—

निर्यात वस्तु	संख्या	रुपयोंमें मूल्य
जीवित पशु खानेके लिये	७२४६७	७५६१५९)
जीवित बंदर	७६१९०	२४५४५६१)
जीवित पक्षी	१०९९७८	१६३१०७८)
गोमांस, मांस पकाया हुआ ताजा और सुखाया हुआ	१५१४०१	१६२१६०१८)
मछली और उसके पदार्थ	—	५७१३६०७६)
चमड़े-बाल	—	१०१५६९७८६)
हड्डी-खून-गोलोचन आदि	—	४३७२५३७९)

चतुर्थ पञ्चवर्षीय योजनामें सरकार चार बड़े यान्त्रिक कसाईखाने खोलने जा रही है, यह बात पहले कही जा चुकी है। इसके अतिरिक्त दस लाखकी बस्तीवाले शहरोंमें पाँच और बड़े यान्त्रिक औद्योगिक कसाईखाने तथा इनके सिवा छोटे शहरोंमें और भी सौसे अधिक औद्योगिक कसाईखाने खोलनेके लिये कुल मिलाकर बीस (२०) करोड़ रुपये लगानेकी योजना बनी है।

इसके अतिरिक्त सूअर-हत्याके दस बड़े कसाईखाने (Bacon factory) की योजना भी है और उसके सूअर-पालनके केन्द्र भी शुरू कर दिये गये हैं।

ये सारी योजनाएँ युनाइटेड नेशन्सकी विश्व-आरोग्य संस्था और अन्न-कृषि विभागके परामर्श, सहयोग तथा आर्थिक सहायतासे सम्पन्न की जायँगी और इनका मुख्य उद्देश्य है—हिंसक उद्योगोंके द्वारा, खूनी व्यापारके द्वारा विदेशी मुद्रा प्राप्त करना!

बड़े ही दुःखका विषय है कि अहिंसामूर्ति अशोकका चिह्न धारण करनेवाली गांधीजीकी अहिंसक सरकार भारतीय संस्कृति, धर्म-परम्परा, अहिंसक-प्रवृत्ति सबकी परवाह छोड़कर केवल पैसोंके लिये हत्याके व्यापार करने जा रही है और इसके लिये भारतीयोंके खाद्यमें मांसाहारकी प्रवृत्ति बढ़ानेके साथ ही नये-नये भीषण जीव-हत्याके प्रयत्नमें लगी है!

प्रत्येक भारतीयको इन भीषण हत्या-उद्योगोंका—सरकारी जीवहत्या-प्रवृत्तिका विरोध करना चाहिये और सरकारसे यह दृढ़ताके साथ माँग करनी चाहिये कि वह इस घोर राष्ट्रीय पापप्रवृत्तिका सदाके लिये तुरंत परित्याग कर दे। इसके परित्यागमें ही सबका कल्याण है। नहीं तो, इस अवाञ्छनीय महापापका भयानक परिणाम अवश्यम्भावी है।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

दानवोंमें भी मानवता

दानव जन्मजात भी पैदा होते होंगे, पर बहुधा कुसंस्कारोंसे, कुसंगसे और बुरी आदतोंसे ही मानवसे दानव बनते देखे-सुने गये हैं।

जो दया, प्रेम, करुणा, मैत्री और सहिष्णुतासे शून्य हो, क्रूर और अत्याचारी हो, आततायी और उत्पीड़क हो, उसे ही दानव कहते हैं और कहना चाहिये।

ऐसे लोगोंमें, ऐसा नहीं कि मानवता नामकी कोई वस्तु होती ही नहीं और वे मानवतासे सर्वथा रहित होते हैं—प्रत्युत होती है, पर एक दम दबी हुई—कुसंस्कारों और कुकर्मोंकी गहरी राखमें छिपी हुई।

अवश्य ही ऐसे अधिकांश लोगोंके जीवनमें वह जीवन भर दबी ही रह जाती है, कभी उभरकर बाहर नहीं आती, पर किसी-किसीके जीवनमें कभी-कभी बाहर भी आ जाती है और उसके जीवनपर लगे लाखों काले धब्बोंमें एक सफेद चाँद-सी चमकती अमर छाप लगा भी जाती है।

ऐसी ही एक चमचमाती अमर छाप आजसे कोई चालीस वर्ष पहिले घोर-घोर दानवों या डाकुओंके एक सरदारके जीवनमें भी लगी थी।

वह आज भी याद है और जीवनभर याद रहेगी।

घटना संक्षेपमें, पर जरा स्वादिष्ट बनाकर यों कही जा सकती है—

लाहौरसे कोई बारह मील दूर एक कस्बा है—काना। कानासे एक ओर कोई तीन मीलके फासलेपर एक छोटा-सा गाँव है—घनकड़।

घनकड़में मेरी स्त्रीका ननिहाल था। मेरी तरह मेरी स्त्रीको भी देहाती जीवन बहुत पसंद था और मेरी तरह अब भी है, पर अब यह पसंद 'पसंद' ही रह गयी है। रहना पड़ रहा है शहरोंमें, अप्राकृतिक जीवनमें, सीधे-सादे और सरल जीवनसे निकलकर औपचारिक जीवनमें—दिखावेके जीवनमें, सुख-आराम और भोग-विलासके पीछे भागनेवाले जीवनमें। अस्तु!

विवाहसे पहिले मेरी तरह मेरी स्त्री भी प्रायः ननिहालमें ही रहती थी और तत्पश्चात् भी विभाजनसे पहले वह प्रायः ननिहालमें ही कुछ दिन बिताने चली जाती थी, यद्यपि उसके मैकेवाले लाहौरमें रहते थे।

मैं उसे लाहौरसे लाने तो भले ही न जाऊँ, पर अपने पिछले देहाती जीवनको एक बार फिर मूर्त्तरूपमें देखनेके लिये सम्भव हो तो वहीं कहीं आस-पास टिक जानेके लिये गाँवमें जरूर चला जाता था, उसे लाने या मिलनेके लिये।

सन्-संवत तो ठीकसे याद नहीं। मौसिम अच्छा था—इतना याद है और यह भी याद है कि मैं एक दिन सबेरे-सबेरे ही घनकड़में पहुँच गया और एक काम याद आ जानेसे दोपहरको ही वहाँसे चल पड़ा।

कोई दो बजेके करीब मैं काना पहुँच गया। लाहौरके लिये मोटर वहींसे चलती थी। मोटर चलनेका खास समय नियत नहीं होता था। जब सवारियोंसे ठसा-ठस भर जाय, छतपर ज्यादा-से-ज्यादा माल-असबाब लद जाय, चल पड़ती थी।

मोटर एक खड़ी थी और उसका चालक एवं कण्डक्टर सवारियोंको आवाजें दे-देकर बुला रहे थे। मैंने मोटरवालेसे पूछा, 'सरदारजी! मोटर कबतक चलेगी?' उसने कहा—'लाहौर जानेके लिये एक बारात आनेवाली है, अभी आ गयी अभी, नहीं तो, सवारियाँ पूरी हो जानेपर।'

मैं मोटरमें बैठ गया और मेरे बाद आनेवाली भी कई सवारियाँ उसमें बैठ गयीं।

इतनेमें बारात भी आ गयी और वह भी उसमें बैठने लग गयी।

बारातके अधिकांश आदमी तो एकपर एक चढ़कर बैठ गये। शेषके लिये क्या हो? मोटरचालकने गैर-बारातियोंको निकलनेके लिये कहना शुरू कर दिया। कुछ निकल आये, कुछ डटे रहे।

बचे हुए बारातियोंसे जब मोटर ब्लैकहोल बनने लगी। और मेरा दम घुटने लगा तो मैंने बाहर निकलनेकी कोशिश शुरू कर दी।

मुझे निकलता हुआ देखकर मोटरचालक बोला—'बैठे रहिये लालाजी! आप तो बड़े गुरमुख सज्जन लगते हैं।'

मैं इसलिये गुरमुख सज्जन नहीं लगता था कि मैंने कोई केश धारण किये हुए थे या गुरुवाणीका पाठ कर रहा था बैठा-बैठा, प्रत्युत मैंने कपड़े कीमती पहिन रक्खे थे और आठ-दस तोला सोना पहिन रक्खा था, यह मुझे बादमें पता लगा।

राम-राम करते मोटर चली, पर 'नौ दिन चले अढ़ाई कोस' वाली रफ्तारसे धीरे-धीरे !

ऊपरसे संध्याकी बेला आ रही थी। सवारियाँ कहें—'सरदारजी ! जरा तेज कीजिये मोटरको। रात्रि न पड़ जाय रास्तेमें।'

सरदारजी तो कुछ न बोलें, कण्डक्टर कभी-कभी कह दे,—'घबराइये नहीं, हमको भी लाहौर ही जाना है।' कण्डक्टर मुसल्मान था।

चलते-चलते मोटर 'जल्लोकी रक्ख' या 'इछरेकी रक्ख' ठीकसे याद नहीं रहा—एक भयानक जंगलके आगे एकदम रुक गयी। मोटरवाला बोला—'कहता था, जल्दी न करायें, मोटर खराब हो जायगी। देखा, मोटर खराब हो गयी। उतरिये अब सब लोग ! मोटर ठीक करूँगा।'

कृष्णपक्ष, सुरमई उजियाला, सब लोग मोटरसे नीचे उतर आये। उधर जंगलकी तरफ क्या दिखायी दिया—ठाठा बाँधे हुए तेज और चमचमाते हथियारोंवाले दो जने उधरसे निकले, दो इधरसे।

देखते-ही-देखते कितने ही डाकू एकत्र हो गये और उनमेंसे दो जने जरा और भी नजदीक आकर एक वृक्षके नीचे खड़े हो गये और उनमेंसे एक मेरे समीप आकर कहने लगा—'इधर आ। चल जरा सामने।'

मेरा शरीर पहले ही काँप रहा था, अब और काँपने लगा, काटें तो खून नहीं।

डरता, हर-हर करता—मैं उसके साथ हो लिया और वृक्षके नीचे उसके साथ जा पहुँचा। लानेवालेने कहा—'देख ले सुरैणिआ*, ठीक है न नहीं ?'

सुरैणा बोला—'ठीक है, पर मियाँ वह दादा (ब्राह्मणको गाँवमें दादा कहते हैं) खड़ा है, उसे दिखा ले। उसे तसल्ली करा दे।'

लानेवालेने उसे बुलाया और वह टार्चसे नीचेसे ऊपर तक मेरी ओर देखकर बोला—'कहाँसे आया है लाला ?' मैंने काँपते हुए कहा—'धनकड़से।'

'तू ईसरदास शाहका दामाद है ?' (ईसरदास मेरी धर्मपत्नीके नानाका नाम था जिनका देहान्त हो चुका था।)

मैंने कहा—'जीहाँ।' लानेवालेने खींचकर एक चाँटा मेरे मुँहपर जमाते हुए कहा—'कंजर कहींके, अगर यहाँ तू मर जाता तो हम किसका घर पूछते ? हमारी तो बच्ची विधवा हो जाती। उस बेचारीने अभी देखा ही क्या है। रफ़ा हो यहाँसे।'

मैंने झुककर जब हाथ जोड़े तो चाँटा मारनेवाला बोला—'हाथ न जोड़। रहने दे। तू हमारा दामाद है। हाथ तो हमें जोड़ने चाहिये थे तेरे आगे। भैया ! क्षमा करना, चाँटा लगा बैठा हूँ।'

मैं मोटरके समीप सवारियोंमें आ मिला तो मियाँने आवाज दी मोटरवालेको—'ले जा जल्दी-जल्दी, रास्तेमें कोई रोकने लगे तो कह देना अपनी ही सवारियाँ हैं।'

मोटरवालेने हम सबको बैठा लिया और हवासे बातें करने लगा। रास्तेमें कण्डक्टरने कहा सवारियोंसे 'शुक्र कीजिये, इस लालाकी बदौलत आप सब बच गये। नहीं तो, न जाने आज क्या होता। जो आदमी इस लालाको ले गया था, वह उन डाकुओंका सरदार अकबर था जो धनकड़का ही रहनेवाला मशहूर बदमाश था।'

अब लाहौर पहुँचते देर न लगी और हम सब सहीसलामत लाहौर पहुँच गये। बादमें एक दिन अकबरने स्वयं ही मेरी पत्नीके मामाको सारी बात सुनाकर कहा—'मैं तो शुक्र करता हूँ अल्लाह तालाका, जिसकी मेहरसे मैंने कंसो (मेरी पत्नीका मैकेका नाम कंसो है) के पतिको पहचान लिया, नहीं तो, हो सकता था सारी जिंदगीका मुझपर दाग लग जाता। मैं अपनी मासूम बच्चीको क्या मुँह दिखाता ?'

यह है दानवोंमें भी मानवता उभर आनेकी सच्ची कहानी।

—गुराँदित्ता खन्ना

(२)

ईमानके आगे पैसेका कोई मूल्य नहीं !

भारत-प्रसिद्ध ऐतिहासिक प्राचीन कलापूर्ण मन्दिरोंकी नगरी ऊनमें श्रीफकीरचन्दजी वर्मा रहते हैं। ये आजसे लगभग तीन वर्ष पहले कार्यवश खरगौन गये थे। वहाँसे वापिस

* सुरैणा, मतलब सुरेणसिंह।

ऊन लौटते समय मोटर न मिलनेसे पैदल ही आ रहे थे। मार्गमें 'कसार बावड़ी' मिलती है, उसमें पानी पीनेके लिये गये। पानी पीते समय देखा कि सीढ़ीपर एक पाकेट रक्खा हुआ है। उस पाकेटको उठाकर आप सड़कपर आकर एक घंटेतक बैठे रहे और पाकेटवालेकी प्रतीक्षा करते रहे। परंतु जब कोई नहीं आया, तब आपने उस पाकेटको खोलकर देखा तो उसमें एक बिल था। बिलपर श्रीभुक्कण भाई पाटीदार, ग्राम बनीहार लिखा हुआ था। बस, इतना ही देखकर आपने पाकेटको बंद कर लिया और तेजीसे चलकर ग्राम बनीहारकी इमलीके पास श्रीभुक्कण भाई पाटीदार, जो खरगौन मंडीमें मूँगफली बेचकर अपनी गाड़ी-बैलसे वापिस बनीहार जा रहे थे, मिल गये। आपने उसको एकदम गाड़ी खड़ी रखनेको कहा। श्रीभुक्कण भाईने गाड़ी खड़ी रक्खी। तब पास आकर श्रीवर्मीने कहा कि 'इस वर्ष मुझे आमका व्यापार करनेके लिये तीन सौ रुपयेकी जरूरत है, आप दे देंगे तो बड़ी कृपा होगी।'

तब श्रीभुक्कण भाईने कहा कि 'घर चलो, रुपये दे दूँगा।' श्रीवर्मा उनके साथ घर गये। श्रीभुक्कण भाईने रुपये देनेके लिये जेबमें हाथ डाला तो पाकेट गायब था। तब तो उनके होश उड़ गये। उन्होंने श्रीवर्मीसे कहा कि 'भाई! अभी खरगौनसे आते समय मैं कसार बावड़ीमें पानी पीनेके लिये गया था। वहाँपर पानीमें कहीं गिर न जाय इस विचारसे पाकेट जेबसे निकालकर मैंने सीढ़ीपर धर दिया था। पानी पीकर पाकेट उठाना भूल गया हूँ। इससे वह पाकेट वहीं रह गया है। अभी जाकर लाता हूँ। भाग्यमें होगा तो मिल जायगा और मिल गया तो तुमको व्यापारके लिये रुपये जरूर दे दूँगा।' अधिक चिन्तातुर देखकर श्रीवर्मीने पाकेट निकालकर उनके सामने धर दिया और कहा कि इसमें आपके नामका बिल होनेसे मैं इसे ले आया हूँ। रुपये कितने हैं, मैं नहीं जानता, आप गिनकर अपनी रकम अच्छी तरह मिला लें। तब श्रीभुक्कण भाई पाटीदारने पाकेट लेकर देखा तो उसमें पूरे पाँच सौके नोट सही-सलामत निकले। पूरी रकम देखकर उनको बहुत ही प्रसन्नता हुई। उन्होंने श्रीवर्मीको बहुत ही स्नेहसे उस दिन अपने घर ही रक्खा और प्रातः अपनी गाड़ी-बैलसे ऊन पहुँचाने आये। ऊन पहुँचाकर आपने बहुत ही अहसान माना। तब श्रीवर्मीने विनम्रभावसे कहा कि-'इसमें अहसानकी तो कोई बात ही नहीं है। ईमानके आगे पैसेका कोई मूल्य नहीं है।' तबसे श्रीवर्मीको केवल श्रीभुक्कण भाई पाटीदार ही नहीं, वरं सारे ग्रामकी जनता श्रद्धासे देखती है।

—विष्णुराम सनावद्या 'सुमनाकर'

(३)

चाँदनीके चार दिन

भूखसे पीड़ित व्यक्ति क्या नहीं करता? दुर्दिनोंके फेरसे ऐसे मौकोंपर कुछ व्यक्ति चोरी करना तक बुरा नहीं समझते, अवश्य ही कुछ गिने-चुने ऐसे भी होते हैं, जिन्हें मरना मंजूर है, लेकिन बुरा काम करना पसंद नहीं।

कालिया दूसरी प्रकारके व्यक्तियोंमेंसे ही था। माँ-बापका प्यार उसे नसीब नहीं हुआ। भाईके प्रेमसे भाभीने वञ्चित कर दिया। जिसका अपना कोई न हो, उस अभागेको अपनी लड़की देना भी कोई पसंद नहीं करता। संसारमें उसका कोई नहीं था, जिसे वह अपना कहकर दुःख-सुखकी बात कह-सुन सके। बीस साल पुरानी एक जर्जर साइकिल, दस जगह टाँके लगे हुए धोतीके दो टुकड़े, एक जोड़ी फटी कमीज, टूटा तवा और कुछ फूटे बर्तन—यही उसकी सम्पत्ति थी। बाप-दादाओंकी बनायी हुई झोंपड़ीका कोना ही उसकी दुनिया थी।

वह गरीब था लेकिन बेईमान न था। जब उसे कहीं सहारा न मिला तो उसने दूध बेचनेका निश्चय किया। किसी दयालुकी मददसे उसने दूधका एक छोटा-सा बर्तन लिया और अपना धन्धा शुरू कर दिया।

दूध बेचते-बेचते कालियाको पाँच साल हो गये। उसकी ईमानदारी और भलमनसाहतने लोगोंके हृदयोंमें अच्छा स्थान पा लिया था। समयने पलटा खाया। कालियाकी ईमानदारीने साथ दिया। अब वह दो-चार गाय-भैंसोंके दूधपर ही निर्भर नहीं था, लगभग पचास गाय-भैंसोंका दूध नित्य गाँवसे शहर कालियाके हाथेमें पहुँच जाता था। चार नौकर थे और दूध ले जानेके लिये एक कार भी थी। कालिया, कालियासे कालीचरन और कालीचरनसे अब वह बोहरेकालीचरनके नामसे सम्बोधित किया जाने लगा था। भाई-भाभीने भी आना शुरू कर दिया था।

पेटकी भूख तो शान्त हो गयी किंतु पैसेकी भूख बढ़ने लगी और बढ़ती ही गयी। कभी पूरी न होनेवाली तथा

आहुति पड़नेपर आगकी तरह अधिक भड़कनेवाली सदा अतृप्त तृष्णाकी आग जाग उठी। बौहरे कालीचरन अब चार पैसेकी बचतसे संतुष्ट न होते थे। चालीस-पचास रुपये प्रतिदिनसे कम बचत नहीं थी, फिर भी उनको संतोष न था। संतोषके सुखका स्थान असंतोषकी ज्वालाने ले लिया था। पहले उनको दो रोटियोंकी भूख थी, अब सबसे बड़ा सेठ बननेकी लालसा। पैसेकी लालसा ही पापकी जननी है।

विचारोंकी दुनियाँ कितनी अस्थायी किंतु कितनी आकर्षक होती है! शीघ्र ही हजारपती, लखपती और तत्पश्चात् करोड़पती बननेकी योजनाएँ बन गयीं और उन्हींके अनुसार कार्य प्रारम्भ हो गया। किंतु बौहरे कालीचरनकी साख बाजारमें इतनी बँधी हुई थी कि किसीको भी यह कहनेका साहस नहीं हुआ कि उसके दूधमें मिलावट आने लगी है।

व्यापार बढ़ता ही गया। दस वर्षके थोड़ेसे ही समयमें बहुत अच्छी आमदनी होने लगी थी। पैसे भी काफी इकट्ठे हो गये थे। कालीचरनका विवाह हुए दो साल हो चुके थे और एक बच्चा भी मनबहलावके लिये था। अच्छे रईसोंमें उठना-बैठना था। भाई भी ढाई सौ रुपये मासिककी अच्छी-भली नौकरी छोड़कर बहती गङ्गामें हाथ धोने आ गये थे। एक अच्छा परिवार बन गया था, जिसकी समाजमें इज्जत थी और बड़ोंमें गिनती। पानीके पैसेने बालू और मिट्टीकी बड़ी-बड़ी दीवारें खड़ी करके सबको घेर लिया था। बौहरे कालीचरन पिछले दिनोंको पूर्णतया भूल चुके थे। वह पुरानी साइकिल और टूटी हुई केन कोनेमें पड़ी अब भी बौहरे कालीचरनको याद दिलाना चाहती थीं कि तुम्हारे वैभवमें उनका भी कुछ हाथ है; किंतु कालीचरनका ध्यान उधर वर्षोंसे नहीं गया था!

आज श्राद्धपक्षकी अमावस्या है। आधा पानी और आधा दूध भी मिल जाय तो सौभाग्य है; क्योंकि लेनेवाले निराशासे बच जाते हैं और देनेवाले आर्थिक लाभ उठा लेते हैं। हर दूधवालेकी दूकानपर एक लंबी लाइन सुबहसे तैयार रहती है। रेलके टिकटघरकी खिड़कीपर इतनी लंबी लाइनमें खड़ा होनेपर यदि टिकट न भी मिले तो इतना अफसोस नहीं होता, जितना इस दिन दूध न मिलनेका दुःख होता है। टिकट तो दूसरे दिन भी मिल सकता है किंतु यहाँ तो ठीक एक साल की जाती है और उसपर भी पितरोंकी नाराजीका डर बना रहता है। बौहरे कालीचरन चाहे कुछ भी हो लेकिन समयकी पाबंदीको अपना पहला धर्म समझते थे। किसी कारणवश जब गाँवमें ही उन्हें आधे घंटेकी देरी हो गयी तो उन्होंने ड्राइवरको तेजीसे चलनेको कहा और कार हवासे बातें करती हुई आगे बढ़ गयी। रास्तेमें एक बरसाती पानीके गड्ढेके अतिरिक्त कहीं नहीं रुकी और दस-पंद्रह मिनटके हेर-फेरसे शहरमें जा पहुँची।

कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था कि एक मेंढकी, जिसका कोई अस्तित्व नहीं, इतने बड़े वैभवको नष्ट करनेपर तुल जायगी। बौहरे कालीचरन दूधको छानना जल्दीमें भूल गये तो कोई आश्चर्य नहीं, किंतु सेठजी बिना छाने दूध लेना धर्मविरुद्ध समझते थे। दूध छानते-छानते दूधमें एक छोटी-सी मेंढकी निकलकर अपनी मूक वाणीमें कह रही थी कि बौहरे कालीचरनने दूधमें पानी मिलाया है और वह भी गंदे-गड्ढेका। पानीसे पितृगण संतुष्ट रह सकते थे किंतु गड्ढेके पानीसे नहीं। सभी भीड़ गालियाँ देती हुई दुखी होकर तितर-बितर हो गयी। बौहरे कालीचरन दूधको न छाननेपर पछता रहे थे। दूकानदार मन-ही-मन खुश था कि उसे कालीचरनके पिछले दो हजार रुपये हड़पनेका स्वर्ण-अवसर बड़ी आसानीसे हाथ लगा था।

पानीकी कमाई पानीकी भाँति बहने लगी। आये दिन जुर्माना होने लगा। जुर्माना देते-देते और जुर्माना देनेवालोंको खुश करते-करते उसका सब वैभव मिट गया; लेकिन जुर्माना होना बंद न हुआ। कार बिकी, मकान गिरवी रक्खा, औरतके गहने गये, फिर भी जुर्मानोंका अन्त न हुआ। और अन्तमें जुर्माना न दे सकनेपर कालीचरनको छः महीनेकी कड़ी सजा हो गयी।

× × ×

आज छः महीनेतक जेलकी रोटियाँ खाकर कालीचरन वापिस लौटे तो न उनके भाई-भाभी मिले और न उनके मित्र-दोस्त। भाईने नौकरी ढूँढ़ ली थी और बीबी अपने बापके पास चली गयी थी। कौन जाने वह आ भी पायेगी या नहीं? बड़े मकानमें कोई और ही रह रहा है किंतु झोंपड़ीके कोने अब भी खाली हैं। सबने साथ छोड़ दिया किंतु पुरानी केन और टूटी सायकिल अब भी साथ देनेको तैयार थीं। कालिया उसी स्थानपर आ गया है, जहाँ उसने चलना प्रारम्भ किया था। दूसरे दिनसे उसने अपनी जीवनयात्राका दूसरा चक्कर प्रारम्भ कर दिया है, किंतु यह अज्ञात है कि इस बार वह कहाँ अपनी यात्रा समाप्त करेगा? चार दिनकी चाँदनीमें

जो कुछ प्राप्त हुआ था वह अन्धकारमें छिप गया है। कालिया उसकी खोजमें है। पता नहीं खोज पायेगा या नहीं !

—बैजनाथ शर्मा एम्० ए०, एम्०एड्०, साहित्यरत्न

(४)

नमककी महिमा

यह उन दिनोंकी बात है जब उत्तर भारतमें जहाँ-तहाँ रेलवे लाइनें बन चुकी थीं और कई जगहोंपर बन रही थीं, पर बेतिया (चम्पारन) से सीवान (सारन) तक अभी भी कोई सीधी लाइन नहीं है, ऐसे तो मुजफ्फरपुर होकर बेतिया जाया जा सकता है, लेकिन उन दिनोंमें सीवानसे बेतिया जानेके लिये केवल स्थल-मार्ग था और वह भी गंडकी नदी पार करके जाना होता था।

मेरे पितामह गाढ़ा बेचने प्रायः बेतिया जाया करते थे। उन दिनों रुपयेके नोट नहीं छपते थे। केवल रुपयेके सिक्के चलते थे। जिनको व्यापारी लोग डोड़ों—न्यौलीमें (जो एक प्रकार पतली और लंबी कपड़ेकी थैली होती है) रुपये रखकर और उसे अपने कमरमें बाँधकर तथा ऊपरसे धोती आदिसे ढककर एक जगहसे दूसरी जगह चलते थे। मेरे पितामह भी उसी प्रकार डोड़ों (न्यौली) में रुपये रखकर और उसको कमरमें बाँधकर बेतियासे सीवान आ रहे थे।

बेतियामें एक चोरको इस बातका भेद मालूम हो गया कि मेरे पितामहके पास पूरा रुपया है जो कमरमें बाँधकर ले जा रहे हैं। वह रास्तेमें चोरी करनेके विचारसे मेरे पितामहके साथ व्यापारीका भेष बनाकर लग गया। जल्दीमें जो साथ लगा तो अपने साथ रास्तेमें खानेके लिये कुछ सत्तू रख लिया और मेरे पितामहके पीछे-पीछे चल पड़ा। मेरे पितामहको उस रास्ते बराबर आना-जाना पड़ता था, रास्तेकी स्थितिकी पूरी जानकारी थी। अतएव वे अपने साथ खानेके लिये सत्तू आदिके साथ नमक, मिर्च, खटाई, चटनी, अचार आदि थोड़ी-थोड़ी मात्रामें रक्खे रहते थे और जहाँ जैसा मौका होता उससे काम चलाते थे।

रास्तेमें एक स्थानपर, जहाँ एक कुँआ और कुछ पेड़ थे, मेरे पितामह ठहर गये और वहीं भोजन आदिकी व्यवस्था करने लगे। कुछ देर आराम करनेके बाद उन्होंने अपनी झोलीसे सत्तू निकाला और सत्तूमें नमक मिलाकर और पानीसे सानकर चटनी, खटाई आदिसे खानेके लिये बैठ गये। चोर भी जो पीछे-पीछे लगा था, वहीं उनको रुका देखकर रुक गया और उसने भी अपनी झोलीसे सत्तू निकाला, लेकिन उसके पास सत्तूके साथ खानेके लिये नमक, मिर्च, खटाई आदि नहीं थे। खानेका समय हो गया था और उस निर्जन स्थानपर ये सब आवश्यक वस्तुएँ मिल जायँ ऐसी सुविधा नहीं थी। वह चोर चिन्तित-सा था। मेरे पितामह समझ गये कि इस व्यक्तिके पास सत्तू खानेका आवश्यक साधन नहीं है और इसी उधेड़-बुनमें वह पड़ा है, अतएव बिना उसके माँगे मेरे पितामहने अपने पाससे आवश्यक सामान नमक, अचार, चटनी आदि उसको सत्तू खानेके लिये दे दिये। पहले तो वह इन्कार करता रहा लेकिन मेरे पितामहके आग्रह और वहाँ दूसरी व्यवस्था उपलब्ध न होनेके कारण उसने उन आवश्यक सामानोंको ले लिया और अपना सत्तू खाया।

भोजन समाप्त होनेके पश्चात् जब पुनः आगे प्रस्थान करनेके लिये मेरे पितामह तैयार हुए तो वह व्यक्ति मेरे पितामहके सामने हाथ जोड़कर क्षमा माँगने लगा और बोला कि—'मैं व्यापारी नहीं हूँ बल्कि आपके रुपयोंको चुरानेके लिये साथ लगा हुआ चोर हूँ लेकिन आपने मुझे अपना नमक खिला दिया इसलिये मेरा धर्म अब कुछ दूसरा हो गया। अब मैं आपके रुपयोंकी चोरीका इरादा छोड़कर बेतिया वापस जाता हूँ।'

मेरे पितामहको उसकी बातें सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ और उनके मनमें यह भाव आया कि जब इसके मनमें इस प्रकार धर्म-भाव है तो जरूर किसी विवशता-वश ही यह चोरी आदि कुकर्म करनेका घृणित विचार अपने मनमें लाया है, इसलिये इसके विषयमें कुछ जानकारी प्राप्त करनी चाहिये और इसके चरित्रको सुधारना चाहिये। मेरे पितामह आग्रह करके उस व्यक्तिको अपने साथ सीवान ले आये और कुछ दिनोंतक अपने यहाँ रखकर उससे व्यापार करनेका वचन लिया और बादमें उसको अपनी ओरसे कपड़ा देकर बेतियामें दूकानदारी करा दी। बहुत दिनोंतक वह व्यक्ति बेतियामें अपनी दूकान करता था और मेरे पितामहसे व्यापारिक

सम्बन्ध रखता था और इस प्रकार थोड़ेसे उत्तम विचारने उसको गिरनेसे बचा दिया।

—रामकृष्णप्रसाद

(५)

राज्य बदला है, अन्तरात्मा नहीं बदली

फ्रांस क्रान्तियोंका देश है। १८३०में वहाँ चार्ल्स दशमके राज्यके विरुद्ध प्रजाने प्रचण्ड विद्रोह किया। तीन दिनके भीतर ही चार्ल्स दशमको राजसिंहासन छोड़ना पड़ा; परंतु इस विद्रोहमें एक बात देखनेमें आयी। विद्रोहियोंकी ईमानदारी और निर्लोभता। विद्रोही सरदारोंका एक लोकप्रिय नारा था, 'हम विजयके लिये निकले हैं डाके डालनेके लिये नहीं।' जहाँ कुछ लोगोंने गड़बड़ की, वहीं उनके साथियोंने उन्हें कठोर दण्ड दिया। विद्रोहसे घबराकर डचेज आफ़ बेरी भाग गयी थी। उसके घरमें दो मिस्त्रियोंको सोनेसे भरा हुआ काँसेका एक संदूक मिला। उसे उठाकर उन्होंने विद्रोहियोंके कोषमें जमा कर दिया और इतनी जल्दी चलते बने कि उनके नामका भी आजतक पता नहीं चला। एक विद्रोही सरदारके यह कहनेपर कि देखना यहाँसे कोई चीज उठने न पाये एक सामान्य नागरिकने उत्तर दिया, 'सरदार, हमने राज्य बदला है, अन्तरात्मा नहीं बदली।'

—राजेन्द्रप्रसाद जैन

(६)

रुद्राक्षका तथा आँवलेका प्रयोग कैसे किया जाय

'भगवन्नाम-महिमा तथा प्रार्थना अङ्क'के पृष्ठ ६०० सौ पर मैंने जो लेख लिखा है उसमें दो-एक बहुत आवश्यक बातें छूट गयी हैं। उन्हें लिख रहा हूँ।

'भगवान्‌की असीम कृपा' शीर्षक लेखमें मैंने 'हाई ब्लड प्रैसर'का उल्लेख किया है और भगवान्‌की कृपासे उससे मुक्ति पानेका हाल लिखा है। इस सम्बन्धमें कुछ बातें लिख देना चाहता हूँ जिससे और लोगोंका उपकार हो सके। यह बीमारी शरीरमें रक्तके आधिक्य अथवा कमीके कारण होती है। शरीरमें रक्तकी गति जाननेके लिये जितनी आयु हो उसमें ९० जोड़ देनेसे निकल आती है। जैसे मेरी आयु इस समय ७० वर्षकी है तो ७० में ९० जोड़ देनेसे १६० रक्तचाप होना आवश्यक है।

रक्तचाप दो तरहका होता है। एकमें यह गति अधिक हो जाती है और दूसरेमें कम। मेरा रक्त-चाप १६० की जगह २३३ हो गया था। यह उतरकर फिर १६० हो गया। बढ़े हुए रक्तचापकी दवा 'सर्वगन्धा' नामक जड़ी है, जिसकी गोलियाँ बाजारमें मिल सकती हैं।

मुझे इनके सेवनसे बहुत लाभ हुआ। पर दूसरे तरहका रक्तचाप ऐसा होता है कि रक्तकी गति साधारणसे मन्दतर हो जाती है। अर्थात् जैसे मेरे रक्तचापमें १६० के स्थानमें १२० हो जाय। इसकी दवा जटामाँसी नामक जड़ी है। रक्तचाप गड़बड़ होनेपर नमक बिल्कुल ही छोड़ देना चाहिये। आटेकी सूखी रोटी तथा हल्की तरकारी लौकी इत्यादि दोपहरको सेवन करना चाहिये। मैं दिनमें केवल एक ही बार एक रोटी, लौकी तथा पालकका साग खाता। रातको थोड़ा-सा (गायका, भैंसका नहीं) केवल दूध लेता था। भैंसके दूधमें बहुत वायु होती है, इसका सेवन नहीं करना चाहिये।

उपर्युक्त ओषधियाँ तो हैं ही पर एक और बहुत ही अच्छी ओषधि रक्तचापके लिये है। मैंने एक अंग्रेजी लेखमें पढ़ा था। यह रुद्राक्ष-धारण है। शुद्ध रुद्राक्ष प्रायः काशीमें मिल जाता है और दाम भी अधिक नहीं लगता। रुद्राक्षको ऐसे धारण करना चाहिये कि वह बराबर शरीरसे लगा रहे। रुद्राक्ष एकसे लेकर बारह मुखी तक होते हैं। मैंने जो रुद्राक्ष धारण किया, वह छःमुखी है। उसका नाम कालाग्निरुद्र है। इससे मुझे तो सदा लाभ हुआ।*

प्रायः चार वर्ष हुए रक्तचाप फिर नहीं हुआ। हृदयके विविध रोगोंमें भी इस शुद्ध रुद्राक्षको घिसकर ओषधिके रूपमें भी लेते हैं। मुझे यह रुद्राक्ष तीन आनेमें मिला था। अधिक-से-अधिक चार-छः आनेमें मिल सकता है। छोटा शुद्ध

---

* एक मेरे सम्मान्य महानुभावने बतलाया था कि असली रुद्राक्षकी माला गलेमें सदा पहने रखनी चाहिये, जिससे उसका स्पर्श हृदयसे होता रहे। इससे बढ़े हुए रक्तचापका रोग मिट जाता है। 'इंडियन एक्सप्रेस'के एक गताङ्कमें एक सज्जन लिखते हैं कि असली रुद्राक्षके दो-चार दाने एक या दो आउंस जलमें डुबोकर रख दें और रातभर पड़ा रहने दें। सबेरे खाली पेट उस पानीको पी लें। इससे बढ़े हुए रक्तचापका रोग नष्ट हो जाता है। यह प्रयोग ६० से ९० दिनोंतक करना चाहिये। इसके अतिरिक्त रुद्राक्षके दानेको गौके दूधमें पीसकर प्रातःकाल खाली पेट उसका सेवन करनेसे चेचक बहुत जल्दी मिट जाता है। रुद्राक्षका प्रयोग चेचकको रोकता भी है। —सम्पादक

रुद्राक्ष कम मिलता है। अतः बड़ेसे ही काम लेना चाहिये। रुद्राक्ष Indonesia (जावा इत्यादि टापू)में ही होता है और वहाँसे भारतमें आयात किया जाता है। यदि किसीको और बातें जाननी हों तो वे मुझे लिख सकते हैं। मेरा पता सम्पादक महोदय 'कल्याण'से मिल सकता है।

उसी लेखमें मैंने आँवलेसे सिर मलनेके बारेमें भी लिखा है। बाजारमें सूखा आँवला छः-सात आनेका सेरभर किसी पसारीके यहाँ मिल सकता है। सेरभर आँवला प्रायः कई दिनोंतक चल सकता है। छँटाकभर आँवला एक काठ, मिट्टी अथवा शीशेके बर्तनमें रातको भिगो देना चाहिये। सवेरे उसमेंसे गुठली निकालकर अलग फेंक देना चाहिये और आँवलेको चन्दनकी तरह घिसकर लगा लेना चाहिये। दस मिनटके बाद पानीसे अच्छी तरह स्नान कर लेना चाहिये। गरमीमें तो यह विशेषरूपसे ठंडक देता है। आँवला रसायन कहा जाता है और पारेका नाम रस है। इसके सेवनसे बाल सफेद नहीं होते तथा मनुष्य प्रायः चिरकालतक युवा बना रहता है।

वैसे आँवला लगानेपर सेंट (Scent) वाला तेल नहीं लगाना चाहिये। मैं तो सिर्फ कड़ुआ तेल ही लगाता हूँ। आँवलेसे सिर मलनेके लिये कोई यह नियम नहीं है कि बराबर ही लगाता रहे। यदि जाड़ेमें ठंडक मालूम दे तो बंद भी किया जा सकता है।

—भगवतीप्रसादसिंह, १७बी० मोतीलालनेहरू रोड, इलाहाबाद

(७)

हृदय-परिवर्तन

बात मेरे एक अत्यन्त निकटतम सम्बन्धीके लड़केकी है या यों कहिये, मेरे ही लड़केकी है और विभाजनसे कोई तीन-चार वर्ष पहलेकी है। उन दिनों वे 'तायर' साहिब कहलाते थे, आजकल 'कपूरसाहिब' कहलाते हैं।

'तायर' साहिब विवाहित थे और एक बच्चेके पिता भी थे। शिक्षित थे, साहित्यिक थे, समालोचक थे और उर्दूके लेखक एवं पत्रकार भी थे।

फिल्में देखनेका उन्हें शौक ही नहीं था, उनमें काम करनेका भी शौक था। कोई भी फिल्म देखते, उसके एक-दो महत्त्वपूर्ण गाने चट याद कर लेते। कण्ठ अच्छा था, इसलिये सुननेवालेको बड़ा रस आता था।

पंजाबमें फिल्मोंका उत्पादन-केन्द्र उन दिनों लाहौर ही था, इसलिये फिल्मशिल्पी, फिल्मविधायक एवं फिल्मप्रेमी अक्सर लाहौरमें ही जमा रहते थे। 'तायर' साहिब भी लाहौरको ही अपना भाग्यविधाता समझकर प्रायः उसकी शरणमें जाते रहते थे। वे फिल्मशिल्पियोंसे सम्पर्क पैदा करते रहते थे, उनसे मेल-जोल बढ़ाते रहते थे और तरह-तरहके स्वप्न-लोककी सैर करते रहते थे।

ज्यों-ज्यों उनका फिल्मीप्रेम बढ़ता जाता था, त्यों-त्यों उनका रंग-ढंग बदलता जाता था। घरके वातावरणसे उन्हें घृणा होती जाती थी, बीबी और बच्चेसे प्रेम घटता जाता था। घरमें बैठते तो फिल्म-जगत्की ही चर्चा करते रहते, उसीके गीत गाते रहते।

जहाँतक फिल्म-जगत्की चर्चाका सम्बन्ध था, फिल्म-शिल्पियोंकी आलोचना-समालोचनाका सम्बन्ध था, किसीको आपत्ति न थी। किसीको डरनेकी जरूरत भी न थी, आपत्ति थी, भय था तो 'तायर' साहिबके बड़ी शीघ्रतासे बदल रहे रंग-ढंगसे—तौर-तरीकोंसे। स्पष्ट दिखायी दे रहा था, आज नहीं तो कल ये अपना सब काम-धंधा छोड़कर, चल-अचल सम्पत्ति बेचकर फिल्म-जगत्में जा प्रवेश करेंगे और यहाँसे सैकड़ों कोस दूर बम्बईमें जा बसेंगे। फिर अकेले नहीं, किसीको साथ लेकर, सहचरी बनाकर, जीवन-संगिनी बनाकर। किसको, यह स्थिर नहीं किया जा सकता था। प्रशंसक कितनोंके ही थे, मेल-मिलाप कितनोंसे ही रखते थे।

अब किया जाय तो क्या, यह उनकी पत्नी सोच ही रही थी कि एक दिन लाहौरसे 'तायर' साहिबके एक मित्र मुसल्मान गीतकार, उनकी अभिनेत्री पत्नी और एक अन्य सज्जन अतिथिरूपमें उनके घर अमृतसर आ गये। पहलेसे स्थिर किये हुए दिन या अकस्मात्—कहा नहीं जा सकता।

'तायर' साहिबकी पत्नी सुन चुकी थी कई बार कि ये गीतकार महोदय अपनी वर्तमान पत्नीको छोड़ तो देना चाहते हैं पर चौराहेपर नहीं, किसी दिल और दौलतवाले व्यक्तिके हाथोंमें हाथ देकर, उसे सौंपकर!

अब 'तायर' साहिबकी स्त्रीने समझा, वह दिल और दौलत-वाला व्यक्ति अगर कोई समझा गया है तो उसका पति।

उसे ही सौंपना चाहते हैं। आये हैं घरका वातावरण देखने, रहन-सहन देखने।

यह एक ऐसा विचार था, विश्वास था जो किसी भी नारीके मस्तिष्कका संतुलन खो सकता था, उसे आपेसे बाहर कर सकता था पर वह जरा भी विचलित न हुई, आपेसे बाहर न हुई, प्रत्युत उसने खुशी प्रकट की। उन्हें देखकर और बड़े मीठे शब्दोंमें उसने उनका स्वागत किया। पतिका संकेत पाकर फौरन चाय तैयार कर लायी और फिर खाना तैयार करनेमें लग गयी। मेरी पत्नी पहलेसे ही चौकेमें बैठी थी।

'तायर' साहिबकी धर्मपत्नी खाना बनाती जाय और रोती जाय। मेरी स्त्रीने सान्त्वना देते हुए कहा—'बेटी, घबराओ नहीं। कल ही मैं तुम्हारे भाईके पास जाकर सारी बात करूँगी और वह तायर साहिबको समझा लेंगे।' वह बोली—'माताजी! उनके पास जानेकी आवश्यकता नहीं। मेरा मैका भाइयोंका घर है, कलको मुझे ताने-मेहने सुनने पड़ेंगे। मैं, खुद ही यदि मुझमें शक्ति होगी, पतिभक्ति होगी, सब ठीक कर लूँगी।'

खाना तैयार हो जानेपर वह दस्तरखान पर ले आयी। सबके साथ मिलकर उसने भी खाया और बातों-बातोंमें उसने गीतकारकी पत्नीकी खूब प्रशंसा की। उसकी अभिनय-कलाको खूब सराहा और उसका भविष्य बहुत उज्ज्वल बतलाया।

खाना समाप्त होनेके थोड़ी देर बाद खुशी-खुशी सब लोग गन्तव्य स्थानको चले गये। समय रातका था, इधर घरके सब लोग भी अपने-अपने स्थानपर जा सोये।

अगले ही दिन 'तायर' साहिबकी धर्मपत्नीने अपने आपमें क्रान्तिकारी परिवर्तन कर लिया।

एक मध्यम वित्तके कुलीन घरकी सीधी-सादी बहू फिल्म-जगत्की शोख हसीना नज़र आने लगी। पत्नीकी जगह प्रेम-विह्वला प्रेमिका दिखायी देने लगी।

बात-बातमें हाव-भाव और कटाक्ष, नाजो अंदाज और नखरा।

सवेरे कोई साड़ी, संध्याको कोई। फिर प्रत्येक साड़ीसे मेल खाता बाकी सब सामान। सैंडल, पर्स वगैरह-वगैरह।

पहले बार-बार कहनेपर भी 'तायर' साहिबको जल्दी बिस्तरकी चाय नहीं देती थी। और देती थी तो प्याला उनके आगे धरकर आप शौच, स्नान और पूजा-पाठको चली जाती थी। अब साथ बैठकर पीने लगी।

पहले बार-बार कहनेपर भी कभी मन मारकर सिनेमा देखनेके लिये 'तायर' साहिबके साथ चल पड़ती थी, सैरको राजी हो जाती थी और किसी रेस्टोरेंटमें बैठ जाती थी, पर अब तो रोज ही जोर देकर सैरको चल पड़ती। सैरके बाद या पहले अब किसी साधारण रेस्टोरेंटमें नहीं, अच्छे होटलमें ले चलती। सिनेमा तो कोई छोड़ती ही नहीं और फिर अकेली नहीं 'तायर' साहिबको साथ लेकर।

'तायर' साहिब हुए खूब खुश। उन्हें ऐसा भान होने लगा कि उन्हें नया जन्म और नया संसार मिल गया है। अब वे लाहौरमें जाने और मित्रोंसे मिलनेमें कोई खास दिलचस्पी नहीं रखने लगे। प्रथम तो जायँ ही कम और जायँ तो रात कभी न रहें। मित्र आयें तो उनसे बेरुखी तो कभी न करें, पर पहले-जैसा उत्साह भी न दिखायें।

धीरे-धीरे 'तायर' साहिबकी रुचियों और अभिलाषाओंमें परिवर्तन आते-आते फिल्म-जगत्में प्रवेशका विचार तो सर्वथा ही समाप्त हो गया। वे स्वयं अभिनेताओं और अभिनेत्रियोंसे सम्पर्क और मित्रता पैदा करने और बढ़ानेकी आलोचना करने लग गये। सादगी और मितव्ययिताकी ओर भी उनका रुख धीरे-धीरे बढ़ने लगा। तड़क-भड़कवाली शोख जिंदगीसे उन्हें कुछ घृणा-सी होने लगी। ऐसा प्रतीत होने लगा कि वे अब फिर पहले-जैसा सादा मर्यादित और प्रशंसात्मक जीवन चाहते हैं पर जोर-जबरसे नहीं, जीवनसंगिनी भी चाहे तो।

जीवनसंगिनीने देखा, अभिनय सफल हो गया है, पतिदेवके विचार फिर यथापूर्व होने जा रहे हैं, उसने अपने नाटकीय जीवनमें परिवर्तन लाना शुरू कर दिया।

धीरे-धीरे वह फिर पहले-जैसी सादी और सौम्य बनने लग गयी। उसकी चञ्चल शोख और खर्चीली जिंदगी बदलने लगी। 'तायर' साहिब भी यही चाहते थे, क्योंकि विलासिताकी भूख अब उनकी मिट गयी थी।

अन्ततोगत्वा फिर दोनों उस पुराने जीवनमें पर तनिक परिवर्द्धित रूपमें आ गये और समयके साथ-साथ चलने लग गये।

'तायर' साहिबकी धर्मपत्नीने बतलाया, पतिको अनुकूल बनानेका तरीका लड़ाई-झगड़ा और लठमलठ नहीं है, इस-

से तो उल्टी तबाही होती है, विनाश होता है और पति हाथसे निकल जाता है, जीवन दूभर और कड़ुवा हो जाता है। एकका नहीं, दोनोंका।

तरीका है, उपाय है, धैर्य, संतोष, प्रेम, मुहब्बत और यथोचित अनुकूलता। साथ ही अपने लक्ष्यपर चट्टानकी तरह दृढ़ रहना, उससे स्वप्नमें भी कभी च्युत न होना। डूबतेको बचाते-बचाते स्वयं न डूब जाना। (नहीं तो, इसमें बड़ा खतरा भी है।)

श्रेष्ठ तैराक वही होता है जो डूबतेको बचाकर किनारेपर ले आता है। जो स्वयं डूब जानेके भयसे डूबतेको बचानेका प्रयत्न नहीं करता या करता-करता स्वयंको खतरेमें समझकर उसे डूबनेके लिये छोड़ आता है वह श्रेष्ठ तैराक नहीं कहलाता।

'तायर' साहिबकी धर्मपत्नी श्रेष्ठ तैराक थी। उसने पतिको भी बचा लिया और खुदको भी डूबने न दिया। उसीका फल है यह जोड़ा आज बहुत सुखी, सम्पन्न और लब्धप्रतिष्ठ है। —गुरांदित्ता खन्ना

(८)

सब वकील ऐसे हों तो !

बिना ही परिश्रम किये धनी होनेका मोह उत्पन्न हुआ और मैंने मेहनतका चालू काम छोड़कर बम्बईके शेयर बाजारमें चक्कर लगाना शुरू कर दिया। बाजारमें शेयरोंके भाव भी आसमानपर चढ़े जा रहे थे। इसी बीच केन्द्र-सरकारके उस समयके अर्थमन्त्री श्रीलियाकत अलीखाँका 'गरीबोंका बजट' आ गया। उसका बाजारपर बड़ा असर हुआ और वह बाजारको गरीब बनाता चला गया। मंदीकी सीधी धारा चलने लगी। मैंने अपने पुराने व्यापारमें मेहनत करके जो कुछ कमाया था, वह सब तो खो ही दिया, ऊपरसे शेयर बाजारकी भी बहुत रकम देनी रह गयी। सभी लेनदारोंको—'धीरे-धीरे कमाकर चुका दूँगा'—यों आश्वासन देकर शान्त किया, परंतु एक दलाल भाई किसी तरह भी नहीं माने; मुझसे बहुत अच्छी कमाई उन्होंने की थी, तो भी केवल चौदह सौ रुपयोंके लिये उन्होंने कोर्टमें मुझपर नालिश कर दी। इसके लिये उन्होंने एक वकील भाईको नियुक्त किया।

मेरे पास दलीलके लिये तो कुछ था ही नहीं, समय बितानेके लिये मेरे वकीलने वादीके बहीखाते जाँचनेकी माँग की और अदालतने उसे मंजूर करके लंबे समयकी मुहलत दे दी। इसी बीच वादीके वकीलको मेरी इस परिस्थितिका पता लग गया कि मेरी नीयत खराब नहीं है, असलमें मैं इस समय अर्थसंकटमें पड़ा हूँ। इससे उनका हृदय द्रवित हुआ।

हमलोग उनके बहीखाते जाँच करने जायँ, इसके पहले ही वे ही अपने बहीखाते लेकर हमारे वकीलके पास आये और बोले कि—'ये रहे बहीखाते। इसीके साथ यह भी जान लें कि हमें यह मुकदमा लड़ना नहीं है, वरं समझौता करना है।'

यह सुनकर मैं कुछ सहमा। मैंने कहा—'समझौता तो प्रतिवादी चाहा करते हैं, न कि आप वादी।'

दूसरे दिन रात्रिको उन्हींके घरपर दलाल भाईके साथ सबकी बैठक हुई। उसमें उनके वकील महोदयने ही समझौतेका यह प्रस्ताव रक्खा कि 'चौदह सौके बदले हम एक हजार रुपये देंगे, और वह भी मासिक पचास रुपयेकी किश्तसे।' हमारी ओरसे तो इन्कार करनेका प्रश्न ही नहीं था। उन्हींके मवक्किलने इस प्रस्तावको अस्वीकार करते हुए एक भी पैसा छोड़नेसे तथा किश्तपर रुपये लेनेसे इन्कार किया। इसपर उनके वकीलने उन्हें समझाकर कहा—'केस सच्चा है, जोरदार है, पर हमलोगोंको परिस्थितिपर भी विचार करना चाहिये। आप मेरी बात मान लें। मैं जो आपके पास अपनी फीस लेता, उसे नहीं लूँगा। इसपर भी आपका मन न मानता हो तो घटतीकी रकम मैं अपने पाससे देनेको तैयार हूँ। पर समझौता तो कर ही लेना चाहिये।'

वकील महोदयके द्वारा जोर देकर समझानेका प्रभाव उनके मवक्किलपर पड़ा और अन्तमें वे समझौतेके लिये तैयार हो गये। केस वापस ले लिया गया। उनकी रकम धीरे-धीरे किश्तके द्वारा चुकती दे दी गयी और मैं जो संकोचमें पड़कर बम्बई छोड़ने जा रहा था सो बम्बईमें ही रह गया।

वे वकील भाई जब कभी मुझे मिलते हैं तो उन्हें देखते ही यह विचार आता है, यदि सभी वकील इसी प्रकारका व्यवहार करने लगें तो चींटीदलकी भाँति वादी-प्रतिवादियोंके दलसे जो अदालतें उमड़ती रहती हैं, वे न उमड़ें और न्यायके लिये वर्षोंतक लोगोंको बाट न देखनी पड़े। 'अखण्ड आनन्द'—। —शान्तिलाल बोके

'कल्याण'का आगामी [जनवरी सन् १९६६ का] विशेषाङ्क

'धर्माङ्क'

बहुत-से विशिष्ट विद्वानों तथा 'कल्याण'-प्रेमियोंके सुझावको ध्यानमें रखते हुए तथा वर्तमान समयमें धर्मकी ह्रासोन्मुख गतिको लक्ष्य करके 'धर्माङ्क' निकालनेका विचार किया गया है। धर्म ही वर्तमान जगत्में व्याप्त भय, आशंका, संघर्ष, अशान्ति और संकटके नाशका एकमात्र उपाय है, इसे सभी विचारशील पुरुष मानते हैं। आशा है कि 'कल्याण'के प्रेमी सज्जन इस सामयिक विषयको पसंद करेंगे। 'कल्याण'के प्रेमी तथा कृपालु विद्वान् महानुभावोंसे प्रार्थना है कि वे अपने लेख अगस्तके अन्ततक अवश्य भेज दें, जिससे विशेषाङ्कमें उनका उपयोग करनेमें कठिनाई न हो। एक विषय-सूची दिग्दर्शनमात्रके लिये दी जा रही है।

लेख बहुत लम्बा न हो। स्पष्ट अक्षरोंमें कागजके एक पीठपर लिखा जाय। कुछ हासिया छोड़कर लिखा जाय। लेखमें किसी सम्प्रदायपर आक्षेप न हो। आवश्यक काट-छाँटकी छूट रहे। प्रकाशित न हो तो क्षमा किया जाय। जो विद्वान् हिंदी न लिख सकते हों वे संस्कृत, बंगला, गुजराती, मराठी और अंग्रेजीमें भी लेख भेज सकते हैं।

विषय-सूची

१–धर्मके परम आदर्शस्वरूप भगवान् श्रीराम और उनकी दिनचर्या
२–धर्मके परम आदर्शस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी दिनचर्या
३–धर्मका स्वरूप, लक्षण और उसकी विभिन्न परिभाषाएँ
४–धर्मका मूल स्रोत, उसकी व्यापकता और सूक्ष्मगति
५–धर्म तथा सम्प्रदायका अन्तर
६–यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः
७–'धर्मो धारयति प्रजाः'
८–'धर्मो रक्षति रक्षितः'
९–यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्ण-स्ततो जयः
१०–'धर्म एव हतो हन्ति'
११–'धर्मस्य प्रभुरच्युतः'
१२–सनातनधर्म ही सार्वभौम धर्म या मानव-धर्म है
१३–अन्तर्मुखता ही धर्मकी कसौटी है
१४–धर्मसे ही अर्थ और भोगकी सार्थकता
१५–धर्म संयमप्रधान है, भोग-प्रधान नहीं
१६–धर्म प्रेम सिखलाता है, घृणा या वैर नहीं
१७–आदर्श-समाज वह होगा जो अर्थपर नहीं, धर्मपर आश्रित हो
१८–धर्मके बिना शान्ति, सुख, सुव्यवस्था सम्भव नहीं
१९–धर्मके नाशका ही फल–महामारी, युद्ध, गृहकलह, दैवी उत्पात
२०–सच्चा धर्मात्मा ही भगवत्प्रेमी होता है और भगवत्प्रेमी ही सच्चा धर्मात्मा है
२१–धर्म ही धर्मका हेतु है
२२–मानव-धर्म
२३–विश्वके विविध धर्मोंका लक्ष्य एक ही है
२४–सर्वधर्म-समन्वय साध्यमें, न कि साधनमें
२५–अधर्मके नाश तथा धर्मकी स्थापना-के लिये भगवान्के अवतार
२६–धर्म और प्रेम
२७–धर्म और संस्कृति
२८–धर्म और लोकधर्म
२९–धर्म और राजनीति
३०–धर्म और अर्थनीति
३१–धर्म और रणनीति
३२–धर्म और व्यापार
३३–धर्म और व्यवहार
३४–धर्म और संस्कार
३५–धर्म और वर्ण-व्यवस्था
३६–धर्म और आश्रम-व्यवस्था
३७–धर्म और विज्ञान

३८—धर्म और समाजवाद
३९—भारतीय साम्यवाद और समाजवाद धर्ममूलक
४०—धर्म और परलोक
४१—धर्म और वेश-भूषा
४२—धर्म और खानपान
४३—विशेष धर्म और सामान्य धर्म तथा विशेष धर्मके आदर्श
४४—सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज
४५—व्यक्तिगत और सार्वजनिक धर्म
४६—आपद्धर्म
४७—अहिंसाधर्म और उसके आदर्श
४८—सत्यधर्म ,, ,, ,,
४९—अस्तेयधर्म ,, ,, ,,
५०—ब्रह्मचर्यधर्म ,, ,, ,,
५१—अपरिग्रहधर्म ,, ,, ,,
५२—शौचधर्म ,, ,, ,,
५३—संतोषधर्म ,, ,, ,,
५४—तपधर्म ,, ,, ,,
५५—स्वाध्यायधर्म ,, ,, ,,
५६—ईश्वर-प्रणिधान धर्म ,, ,,
५७—त्यागधर्म ,, ,, ,,
५८—दयाधर्म ,, ,, ,,
५९—धृतिधर्म ,, ,, ,,
६०—क्षमाधर्म ,, ,, ,,
६१—शम (मनोनिग्रह)धर्म ,, ,,
६२—पर-स्वत्वापहरण-त्याग धर्म,, ,,
६३—दम (इन्द्रिय-संयम)धर्म ,, ,,
६४—धीधर्म ,, ,,
६५—विद्याधर्म ,, ,,
६६—अक्रोधधर्म ,, ,,
६७—तितिक्षाधर्म ,, ,,
६८—मौनधर्म और ,, ,,
६९—सेवाधर्म ,, ,,
७०—उपरतिधर्म ,, ,,
७१—वैराग्यधर्म और उसके आदर्श
७२—निष्कामताधर्म ,, ,,
७३—निर्लोभताधर्म ,, ,,
७४—समदर्शिताधर्म ,, ,,
७५—समताधर्म ,, ,,
७६—सर्वभूतहितैषिताधर्म ,, ,,
७७—विवेकधर्म ,, ,,
७८—आत्मचिन्तनधर्म ,, ,,
७९—सबमें भगवद्‌बुद्धिधर्म,, ,,
८०—नवधा भक्ति-धर्म—परमधर्म और उसके आदर्श
८१—ब्राह्मण-धर्म ,, ,,
८२—क्षत्रिय-धर्म ,, ,,
८३—वैश्य-धर्म ,, ,,
८४—शूद्र-धर्म ,, ,,
८५—नारी-धर्म ,, ,,
८६—पातिव्रत-धर्म ,, ,,
८७—ब्रह्मचारी-धर्म ,, ,,
८८—गृहस्थ-धर्म ,, ,,
८९—वानप्रस्थ-धर्म ,, ,,
९०—संन्यास-धर्म ,, ,,
९१—अतिथि-सेवा-धर्म ,, ,,
९२—गो-सेवा-धर्म और उसके आदर्श
९३—शरणागत-रक्षा-धर्म ,, ,,
९४—पिताका धर्म ,, ,,
९५—माताका धर्म ,, ,,
९६—पुत्रका धर्म ,, ,,
९७—भाईका धर्म ,, ,,
९८—पत्नीका धर्म ,, ,,
९९—पतिका धर्म ,, ,,
१००—सेवकका धर्म ,, ,,
१०१—स्वामीका धर्म ,, ,,
१०२—गुरुका धर्म ,, ,,
१०३—शिष्यका धर्म ,, ,,
१०४—मालिकका धर्म ,, ,,
१०५—मजदूरका धर्म ,, ,,
१०६—शासकका धर्म और उसके आदर्श
१०७—प्रजाका धर्म ,, ,,
१०८—विद्यार्थीका धर्म ,, ,,
१०९—शिक्षकका धर्म ,, ,,
११०—समाजके नेतावर्गका धर्म ,, ,,
१११—समाजके उपदेशक-कथाकारका धर्म और उसके आदर्श
११२—राष्ट्रके प्रति हमारा धर्म
११३—देशभक्ति-धर्म
११४—समाजके प्रति हमारा धर्म
११५—मित्र-धर्म और उसके आदर्श
११६—धर्म-रक्षाके लिये प्राण देनेवाले महात्मा
११७—धार्मिक पशु-पक्षी
११८—धर्ममें शासनका हस्तक्षेप अवाञ्छनीय
११९—विविध ग्रन्थोंमें धर्मका प्रतिपादन
१२०—विश्वके महापुरुषोंकी धार्मिक सूक्तियाँ
१२१—हिंदू-धर्मके मूल (आधार) ग्रन्थ
१२२—विश्वके विभिन्न धर्मोंके आधार ग्रन्थ
१२३—विश्वके विभिन्न धर्मोंके मुख्य प्रवर्तक-प्रचारक और उनके सिद्धान्त
१२४—'धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः'
१२५—कवि और लेखकका महान् धर्म
१२६—परमधर्म भागवत-धर्म
१२७—शरीरधर्म और उसकी सीमाएँ
१२८—'सेक्युलरिज्म' और धर्म
१२९—'रिलिजन' और 'मजहब'से 'धर्म'की विलक्षणता
१३०—चराचर जगत्‌में एक आत्मा या एक भगवान्‌को देखनेवाला धर्म ही वास्तविक धर्म है

'कल्याण' के आजीवन-ग्राहक बनिये और बनाइये

[आपके इस कार्यसे गीताप्रेसके सत्साहित्य-प्रचार-कार्यमें सहायता मिलेगी]

(१) प्रतिवर्ष 'कल्याण'का मूल्य भेजनेकी बात समयपर स्मरण न रहनेके कारण वी० पी० द्वारा 'कल्याण' मिलनेमें देर हो जाती है, जिससे ग्राहकोंको क्षोभ हो जाता है; इसलिये जो लोग भेज सकें, उन्हें एक साथ एक सौ रुपये भेजकर 'कल्याण'का आजीवन ग्राहक बन जाना चाहिये।

(२) जो लोग प्रतिवर्ष सजिल्द विशेषाङ्क लेना चाहें, उन्हें १२५ रुपये भेजना चाहिये।

(३) भारतवर्षके बाहर (विदेश) का आजीवन ग्राहक-मूल्य अजिल्दके लिये १२५ रुपये या दस पौंड और सजिल्दके लिये १५० रुपये या बारह पौंड है।

(४) आजीवन-ग्राहक बननेवाले जबतक रहेंगे और जबतक 'कल्याण' चलता रहेगा, उनको प्रतिवर्ष 'कल्याण' मिलता रहेगा।

(५) मन्दिर, आश्रम, पुस्तकालय, मिल, कारखाना, उत्पादक या व्यापारी-संस्था, छत्र या अन्यान्य संस्था तथा फर्म भी आजीवन-ग्राहक बनाये जा सकते हैं।

चेक या ड्राफ्ट 'मैनेजर, गीताप्रेस' के नामसे भेजनेकी कृपा करेंगे।

कल्याणके पुराने ३८ विशेषाङ्कोंमेंसे अब केवल चार प्राप्य हैं

१—हिंदू-संस्कृति-अङ्क
पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मू० रु० ६.५०, डाकव्ययसहित।

२—मानवता-अङ्क
पृष्ठ ७०४, चित्र बहुरंगे ३९, दोरंगा १, इकरंगे १०१, रेखाचित्र ३९, मू० रु० ७.५०, डाकव्ययसहित।

३—संक्षिप्त शिवपुराणाङ्क (दूसरा संस्करण)
पृष्ठ ७०४, चित्र बहुरंगे १७, दोरंगा १, सादे १२ तथा रेखा-चित्र १३८, मूल्य रु० ७.५०, सजिल्द रु० ८.७५।

४—संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्तपुराणाङ्क (भगवान् श्रीकृष्णकी विभिन्न रोचक लीलाओंसे सम्बन्धित)
पृष्ठ ७०४, चित्र बहुरंगे १७, दोरंगा १, सादे ६ और रेखा-चित्र १२०, मू० रु० ७.५०, सजि० रु० ८.७५।

इन विशेषाङ्कोंकी जो कुछ थोड़ी-बहुत प्रतियाँ शेष हैं, उनके समाप्त हो जानेपर ये भी उसी प्रकार दुर्लभ हो सकते हैं (जैसे शेष चौंतीस नहीं मिल रहे हैं और उनके लिये जनता बार-बार प्राप्त करनेका आग्रह कर रही है;) अतः जिन्हें लेना हो, वे शीघ्र मनीआर्डरद्वारा मूल्य भेजकर मँगवा लेनेकी कृपा करेंगे।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीगीता और रामायणकी आगामी परीक्षाएँ

श्रीगीता और रामचरितमानस—ये दो ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनको प्रायः सभी श्रेणीके लोग विशेष आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। इसलिये समितिने इन ग्रन्थोंके द्वारा धार्मिक शिक्षा-प्रसार करनेके लिये परीक्षाओंकी व्यवस्था की है। उत्तीर्ण छात्रोंको योग्यतानुसार पुरस्कार भी दिया जाता है। परीक्षाओंके लिये स्थान-स्थानपर लगभग ५०० केन्द्र स्थापित हैं तथा और भी नियमानुसार किये जा सकते हैं।

आगामी गीता-परीक्षाएँ रविवार, सोमवार दिनाङ्क २१ व २२ नवंबर १९६५ को एवं रामायण-परीक्षाएँ दिनाङ्क ९ व १० जनवरी १९६६ रविवार, सोमवारको होनेवाली हैं। केन्द्र-व्यवस्थापकोंसे निवेदन है कि सभी परीक्षाओंके लिये आवेदनपत्र एवं नवीन केन्द्रोंके लिये प्रार्थनापत्र दिनाङ्क ३० अगस्त १९६५ तक भेज देनेकी कृपा करें। विशेष जानकारीके लिये पत्र लिखकर नियमावली मँगवा सकते हैं।

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, गीताभवन, पो०-स्वर्गाश्रम (देहरादून) उत्तर प्रदेश